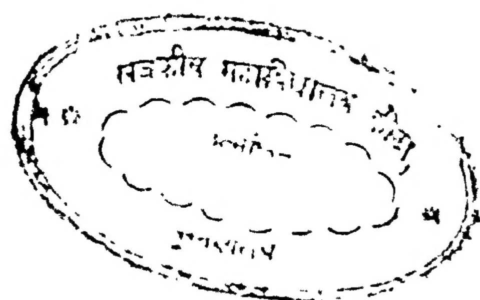
आदिकाल की भूमिका

U. G. C. TEXT BOOKS



आदिकाल की भूमिका

पुरुषोत्तम प्रसाद आसोपा



सूर्य प्रकाशन मन्दिर
बीकानेर

प्रकाशक : सूर्य प्रकाशन मंदिर, बिस्सों का चौक, बीकानेर
संस्करण : १९७३ 20
मूल्य : ~~पन्द्रह रुपये मात्र~~
मुद्रक : विकास आर्ट प्रिंटर्स, शाहदरा, दिल्ली-३२

AADIKAL KI BHOOMIKA by Purushotam Prasad Aasopa Rs. ~~15.00~~

स्वर्गीय पिताजी
एवं
माताजी की पावन स्मृति में

उनके प्रति—
जिनके ग्रन्थों का उपयोग पुस्तक लेखन के लिए किया,
श्री पुखराज पुरोहित और श्री रामनिवास शर्मा के प्रति—
जिन्होंने अध्ययन की सुविधाएँ
औ' साधन प्रदान कराए,
मित्रों के प्रति—जिन्होंने प्रेरणा दी,
श्री सूर्यप्रकाश बिस्सा के प्रति—
जिन्होंने इसे पुस्तक का आकार दिया।

पुरुषोत्तम प्रसाद आसोपा
व्याख्याता, हिन्दी विभाग,
डूंगर कॉलेज, बीकानेर

अनुक्रम

U. G. C. TEXT BOOKS

U. G. C. TEXT BOOKS

आदिकाल की भूमिका

१
अपभ्रंश और हिन्दी

अपभ्रंश शब्द का अर्थ

"भारतीय आर्यभाषा के विकास की जो अवस्था आज अपभ्रंश नाम से जानी जाती है, उसके लिए प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में अपभ्रष्ट और अपभ्रंश तथा प्राकृत-अपभ्रंश ग्रन्थों में अवब्भंस, अवहंस, अवहत्थ, अवहट्ठ, अवहठ, अवहट, आदि नाम मिलते हैं। संस्कृत में प्राय: अपभ्रंश शब्द का ही प्रयोग किया गया है, 'अपभ्रष्ट' शब्द का उल्लेख बहुत कम मिलता है।"[१] यद्यपि उपर्युक्त सभी शब्द समान अर्थ को प्रकट करने वाले हैं तथापि इस भाषा का नाम जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, संस्कृत में प्रयुक्त अपभ्रंश ही स्वीकार्य हुआ है। संस्कृत के अनुसार अपभ्रंश का शाब्दिक अर्थ भ्रष्ट, च्युत, स्खलित, विकृत अथवा अशुद्ध है। अत: भाषा के सामान्य मानदण्ड से जो शब्द च्युत हों, वे अपभ्रंश हैं।"[२] प्राकृतकाल के बाद की भाषा, जो भाषा-विकास की दृष्टि से प्राकृत और आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के मध्य की कड़ी बनी, को उन वैयाकरणों ने, जो भाषा के शुद्ध व्याकरण-सम्मत रूप को ही सम्मान की दृष्टि से देखते थे, अपभ्रंश अथवा अपभ्रष्ट (बिगड़ी हुई, अशुद्ध) नाम दिया। इस प्रकार अपभ्रंश भाषा प्राकृत के व्याकरण के नियमों का निर्वाह नहीं करती थी इसलिए वैयाकरणों ने इस भाषा के प्रति अपने अनादर को इसे यह नाम देकर प्रकट किया। अपभ्रंश का यह नामकरण और वैयाकरणों की उसके प्रति असाधु भावना ही उसके महत्त्व का प्रतिपादन करती है। भाषा-वैज्ञानिक भाषा के विकास के लिए एक सामान्य सिद्धान्त मानते है और वह यह है कि जब एक भाषा प्रयोगाधिक्य से बहुत प्रचलित हो जाती है, उसमें प्रचुर मात्रा में साहित्य भी निर्मित होने लगता है तो वैयाकरणों का ध्यान उस भाषा पर जाता है और

१. डॉ० नामवरसिंह—अपभ्रंश का हिन्दी साहित्य पर प्रभाव, पृ० १
२. वही, पृ० २

वे उसका व्याकरण निर्मित कर देते हैं। एक बार व्याकरण में बँध जाने पर एक प्रकार से उस भाषा का विकास रुक जाता है क्योंकि साधारण जनता के लिए उन नियमों का निर्वाह कर पाना कठिन होता है। वे उन नियमों से बचने का प्रयास करते हैं और इसी प्रक्रिया में बोलचाल की भाषा के स्वरूप में परिवर्तन हो जाता है और विकास के द्वारा यही बोलचाल की भाषा आगे चलकर नवीन भाषा का रूप ग्रहण कर लेती है। अपभ्रंश के साथ भी यही हुआ। प्राकृतों में जब साहित्य निर्मित होने लगा और उनका व्याकरण बनाया जाने लगा तो जनता पुनः बोलचाल के नवीन रूप को अपनाने लगी। नवीन बोलचाल की भाषा के इसी रूप को प्राकृत के वैयाकरणों ने अपभ्रंश नाम दिया क्योंकि उनकी दृष्टि में वह व्याकरण के नियमों से रहित होने के कारण अपभ्रष्ट या बिगड़ी हुई भाषा थी। इस प्रकार अपभ्रंश तत्कालीन बोलचाल की भाषा के लिए दिया गया नाम है। "असल में अपभ्रंश लोक में प्रचलित भाषा का नाम है।"[1]

अपभ्रंश के विकास के सोपान

अपभ्रंश भाषा के नामकरण के समान ही उसके विकास का इतिहास भी अत्यधिक रोचक है। डॉ० हरिवंश कोछड़ के अनुसार उसे हम निम्न बिन्दुओं में देख सकते हैं :[2]

१. आरम्भ में अपभ्रंश का अर्थ था, शिष्टेतर या शब्द का बिगड़ा हुआ रूप और यह शब्द अपाणिनीय रूप के लिए प्रयुक्त होता था।

२. भरत के समय में (३०० ई०) विभ्रष्ट शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त होने लगा था। उस काल में अपभ्रंश बीज रूप में वर्तमान थी और इसका प्रयोग शबर, आभीर आदि वनवासियों द्वारा किया जाता था। साहित्यिक भाषा के रूप में अपभ्रंश का प्रयोग अभी तक आरम्भ नहीं हुआ था। इसकी पुष्टि आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के इस कथन से भी हो जाती है—"अपभ्रंश भाषा सन् ईसवी के प्रथम शतक में आभीरी भाषा के नाम से लक्ष्य की गई थी और भारतवर्ष के पश्चिमोत्तर सीमान्त में बोली जाती थी। आभीरों का विशेष प्रकार का स्वर-वैचित्र्य और उच्चारण प्रावण्य इसका प्रधान लक्षण था। यद्यपि यह आभीरी नाम से पुकारी गई, पर थी आर्यभाषा ही।[3]

३. छठी शताब्दी में अपभ्रंश शब्द वैयाकरणों और आलंकारिकों के ग्रंथों में भी प्रयुक्त होने लग गया था और यह शब्द साहित्य की भाषा का सूचक भी

---

१. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी

२. डॉ० हरिवंश कोछड़—अपभ्रंश साहित्य, पृ० ६

३ आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी—हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० २३

बन गया था। उस समय तक अपभ्रंश का स्वतन्त्र अस्तित्व विकसित हो गया था और भामह तथा दंडी जैसे आलंकारिकों की स्वीकृति प्राप्त कर चुका था। इतना होने पर भी अपभ्रंश का आभीरों के साथ सम्बन्ध अभी तक बना हुआ था।

४. नवीं शताब्दी में अपभ्रंश को आभीर, शबर आदि की ही भाषा माना जाना बन्द हो गया था। यह सर्वसाधारण की भाषा मानी जाने लगी थी। इस समय तक यह सुराष्ट्र से लेकर मगध तक फैल गई थी। स्थान-भेद से इसमें भिन्नता आ गई थी किन्तु काव्य में आभीरादि की अपभ्रंश का ही प्रयोग होता था।

५. ग्यारहवीं शताब्दी में आलंकारिकों, वैयाकरणों और साहित्यिकों ने स्वीकार किया कि अपभ्रश एक ही भाषा नहीं अपितु स्थान-भेद से अनेक प्रकार की है। इस समय तक अपभ्रंश व्यापक रूप में प्रयुक्त होने लग गई थी। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार "यहाँ तक आकर अपभ्रंश का व्यवहार लोक-भाषा के अर्थ में होने लगा था।"[1]

इस प्रकार संस्कृत और प्राकृत के व्याकरण की दृष्टि से जो भाषा अपभ्रष्ट थी वही विकास के द्वारा क्रमशः विकसित होती गई और ग्यारहवीं शताब्दी तक पहुँचते-पहुँचते समृद्ध हो गई।

अपभ्रंश के भेद

अपभ्रंश के भेदों को लेकर विद्वानों में मतभेद है। अलग-अलग विद्वानों ने इसके अलग-अलग भेदों की चर्चा की है। विष्णु धर्मोत्तर में इसके अनन्त भेद कहे गए हैं। नमि साधु ने अपभ्रंश के 'उपनागर', 'आभीर' और 'ग्राम्य' नाम के तीन भेद किये हैं। मार्कण्डेय ने भी अपभ्रंश के तीन भेद किये है किन्तु उनके अनुसार उनके नाम 'नागर', 'उपनागर' और 'व्राचड़' है। मार्कण्डेय के अनुसार 'व्राचड़' सिंध प्रदेश की अपभ्रंश है, 'नागर' गुजरात की अपभ्रंश है और 'उपनागर' इनके अनुसार इन दोनों के बीच की मिश्र अपभ्रंश है। नमि साधु की 'उपनागर' और मार्कण्डेय की 'नागर' एक ही है। और कुछ लोगों की मान्यतानुसार यही उस काल की परिनिष्ठित भाषा थी। मार्कण्डेय से ही पता चलता है कि उनके समय में कुछ लोग, स्थान और शैली के आधार पर, अपभ्रंश के २७ भेद मानते थे। वे भेद हैं—व्राचड़, लाट, वैदर्भ, उपनागर, नागर, वार्बर, अवन्त्य, पांचाल, टाक्क, मालव, कैकय, गौड़, ओढ्र, वैवपश्चात्य, पांड्य, कौंतल, सैंहल, कलिंग्य, प्राच्य, कार्णाट, कांच्य, द्राविड, गौर्जर, आभीर, मध्यदेशीय तथा वैताल

---

१. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी—हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० २३

आदि।[1] लेकिन प्राचीन काल से ही इन २७ भेदों का खण्डन होता रहा है।

वर्तमान समय में अपभ्रंश पर मुख्य रूप से डॉ० याकोबी और डॉ० तगारे प्रभृति विद्वानों ने कार्य किया है। डॉ० याकोबी ने 'सनत्कुमारचरिउ' की भूमिका में अपभ्रंश के भेदों की चर्चा की है और क्षेत्रीयता के आधार पर अपभ्रंश के पूर्वी, पश्चिमी, उत्तरी, दक्षिणी—ये चार भेद बतलाए हैं। इसके बाद डॉ० तगारे ने अपनी पुस्तक 'हिस्टॉरिकल ग्रामर ऑफ अपभ्रंश' में डॉ० याकोबी द्वारा बतलाए गए भेदों की चर्चा की है और विवेचन के बाद अपभ्रंश के 'उत्तरी' भेद को व्यर्थ मानकर सिर्फ तीन भेद स्वीकार किए—दक्षिणी, पूर्वी और पश्चिमी। याकोबी की तरह तगारे के वर्गीकरण का आधार भी रचना-स्थान है किन्तु उसकी पुष्टि के लिए उन्होंने इनके भाषा-व्याकरण सम्बन्धी भेद भी बतलाए हैं। हिन्दी साहित्य के बृहत् इतिहास में अपभ्रंश के इन्हीं तीन रूपों की चर्चा की गई है और उनका विवरण इस प्रकार दिया गया है।[2]

१. पूर्वी अपभ्रंश—सरह तथा कह्ण के दोहाकोश तथा चर्यापदों की भाषा।

२. दक्षिणी अपभ्रंश—पुष्पदन्त कृत महापुराण, नेमिकुमारचरिउ, जसहरचरिउ एवं मुनिकनकामर के करकंडचरिउ की भाषा।

३. पश्चिमी अपभ्रंश—कालिदास, जोइंदु, रामसिंह, धनपाल, हेमचन्द्र आदि की अपभ्रंश भाषा, जिसका रूप विक्रमोर्वशीय, सावयधम्मदोहा, पाहुडदोहा, भविसयत्तकहा एवं हेम व्याकरण में उद्धृत दोहों आदि में पाया जाता है।

इधर डॉ० नामवर सिंह ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग' में, डॉ० तगारे के मत से असहमति प्रकट करते हुए बतलाया है कि "दक्षिणी अपभ्रंश नामक एक अलग भाषा की कल्पना निराधार और अवैज्ञानिक है।"[3] और अपनी ओर से अपभ्रंश के केवल दो भेदों की चर्चा करते हुए कहा है—"वस्तुतः भारतीय आर्यभाषा की पूर्ववर्ती परम्परा के अनुसार अपभ्रंश के भी केवल दो क्षेत्रीय भेद थे—पश्चिमी और पूर्वी, जिनमें पश्चिमी अपभ्रंश परिनिष्ठित थी तथा पूर्वी अपभ्रंश उसकी विभाषा मात्र थी। अपभ्रंश के इससे अधिक भेदों की सत्ता मानने के लिए इस समय कोई गुंजाइश नहीं है।"[4]

डॉ० भोलानाथ तिवारी अपभ्रंश के सिर्फ दो भेद मानने को तैयार नहीं हैं। उनके अनुसार जब प्राकृत की पांच भाषाएँ थीं तो उनसे विकसित होनेवाली

---

१. डॉ० भोलानाथ तिवारी—भाषा-विज्ञान, पृ० १८४
२. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, भाग प्रथम, पृ० ३१६
३. डॉ० नामवर सिंह—हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, पृ० ४०
४. वही, पृ० ४२-४३

अपभ्रंश के सिर्फ दो प्रकार ही कैसे रह सकते हैं। इसलिए उनकी दृष्टि में अपभ्रंशों की संख्या कम-से-कम सात के आसपास होनी चाहिए। डॉ० धीरेन्द्र वर्मा भी अपभ्रंश या प्राकृत और आधुनिक आर्यभाषाओं के संवंध के प्रति असन्तोष प्रकट करते हैं—"अपभ्रंशों या प्राकृत और आधुनिक आर्य भाषाओं का इस तरह का संबंध बहुत संतोषजनक नहीं मालूम पड़ता।"[1]

अपभ्रंश के भेदों को लेकर यह विवाद क्यों है ?

अपभ्रंश के भेदों को लेकर विद्वानों में मतभेद होना स्वाभाविक है। वस्तुतः अपभ्रंश के अध्ययन का आधार हेमचन्द्र हैं। हेमचन्द्र ने अपने प्राकृत व्याकरण में अपभ्रंश पर भी संक्षिप्त व्याकरण लिखा है। किन्तु हेमचन्द्र ने सिर्फ नागर (शौरसेनी) अपभ्रंश का ही व्याकरण लिखा है। अतएव हेमचन्द्र के इस वर्णन के आधार पर सभी विद्वान् स्वमत की स्थापना की चेष्टा में लगे रहते हैं। हेमचन्द्र के समय तक (बारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक) अपभ्रंश का एक रूप स्थिर और परिनिष्ठित हो चुका था। किन्तु उसके विविध रूपों का अन्दाजा विद्वान् अटकलें लगाकर करते रहे हैं।

इतना निश्चित है कि पूर्वी और पश्चिमी अपभ्रंश दो भेदों के रूप में निर्धारित हो चुकी थीं। किसी को अपभ्रंश के इन दो रूपों को मानने में किसी प्रकार का संकोच नहीं है। परवर्ती अपभ्रंश, जो क्रमशः आधुनिक आर्यभाषाओं के रूप में बदलती गई, निश्चित् रूप से पश्चिमी और पूर्वी रूपों को लिए हुए थी। अतः हिन्दी से सम्बन्धित होने के नाते यदि हम अपभ्रंश के पूर्वी और पश्चिमी रूप को ही ध्यान में रखते हैं तो किसी को कोई आपत्ति नहीं होगी। "अब ध्यान से देखिए तो हिन्दी में दो प्रकार की भिन्न-भिन्न जातियों की दो चीज़ें, अपभ्रंश विकसित हुई हैं (१) पश्चिमी अपभ्रंश से राजस्तुति ऐहिकतामूलक शृंगारी काव्य, नीतिविषयक फुटकल रचनाएँ और लोकप्रिय कथानक। और (२) पूर्वी अपभ्रंश से निर्गुणिया संतों की शास्त्र निरपेक्ष उग्र विचारधारा, झाड़-फटकार, अक्खड़पना, सहजशून्य की साधना, योग-पद्धति और भक्तिमूलक रचनाएँ।"[2]

अपभ्रंश का समय

हिन्दी भाषा के विकास के क्रम को क्रमशः तीन भागों में बाँटा गया है—प्राचीन भारतीय आर्यभाषा, मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा और आधुनिक भारतीय आर्यभाषा। अपभ्रंश को मध्यकालीन आर्यभाषा का अन्तिम चरण बतलाया गया है और मोटे तौर पर इसका समय ५०० से १००० ई० माना

---

१. डॉ० धीरेन्द्र वर्मा—हिन्दी भाषा का इतिहास, भूमिका, पृ० ४६ (पाद-टिप्पणी)

२. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी—हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० २५

गया है। हिन्दी भाषा के विकास का समय उसके बाद माना गया है। लेकिन सूक्ष्मता से देखने पर पता चलता है कि हिन्दी की शुरुआत के बाद भी अपभ्रंश का प्रचार होता रहा। इस सम्बन्ध में डॉ० धीरेन्द्र वर्मा का मत विचारणीय है। "वर्तमान भारतीय आर्यभाषाओं का साहित्य में प्रयोग कम-से-कम तेरहवीं शताब्दी के आदि से अवश्य आरम्भ हो गया था और अपभ्रंशों का व्यवहार चौदहवीं शताब्दी तक साहित्य में होता रहा था।"[1] इसलिए प्रश्न उठता है कि अपभ्रंश का समय कब तक माना जाय? एक दृष्टि से उसका समय १००० ई० तक है तो दूसरी से उसके समय को १४वीं-१५वीं शताब्दी तक खींचा जा सकता है। दरअसल बोलचाल की भाषा और साहित्य की भाषा में अन्तर होता है। एक भाषा बोलचाल से हट जाने पर भी उसके २००-३०० वर्षों बाद तक साहित्य में प्रयुक्त होती रहती है। अतः बोलचाल की भाषा और साहित्य की भाषा के समयों में अन्तर होना स्वाभाविक है। अपभ्रंश बोलचाल की भाषा के रूप में १०००ई० तक ही प्रचलित थी किन्तु साहित्य के क्षेत्र में इसका प्रयोग बाद तक होता रहा। डॉ० भोलानाथ तिवारी के शब्दों में हम कह सकते हैं कि "छठी सदी तक आते-आते अपभ्रंश में काव्य-रचना होने लगी थी, तब से लेकर १५वीं-१६वीं सदी तक अपभ्रंश में काव्य-रचना हुई (यद्यपि बोलचाल की भाषा के रूप में इसका प्रचार १०००ई० के आस-पास समाप्त हो गया)...।[2]

उपर्युक्त कथन के आधार पर अपभ्रंश के समय को लेकर निम्न दो निष्कर्ष निकलते हैं:

१. बोलचाल की भाषा के रूप में अपभ्रंश ५०० ई० के पूर्व से लेकर १००० ई० तक प्रयुक्त होती रही।
२. अपभ्रंश में लिखे गये साहित्य का समय ५वीं-६ठी शताब्दी ई० से लेकर १३वीं-१४वीं शताब्दी तक (इससे कुछ और पीछे तक भी) माना जा सकता है।

मोटे तौर पर १०००ई० पर ही अपभ्रंश का समय समाप्त हो जाता है लेकिन आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के साहित्य का (विशेषतः हिन्दी के साहित्य का) समय १३वीं शताब्दी से शुरू होता है। इस मध्य के समय में भाषा का स्वरूप क्या था, यह भी विचारणीय है। क्योंकि हिन्दी साहित्य के प्रारम्भ का निर्धारण करने के लिए यह मध्य का समय ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। इसके लिए अपभ्रंश के अलावा कुछ और भाषा-रूपों की ओर जिनकी चर्चा विद्वानों के द्वारा की गई है, भी ध्यान देना चाहिए।

---

१. डॉ० धीरेन्द्र वर्मा—हिन्दी भाषा का इतिहास, पृ० ४६।
२. डॉ० भोलानाथ तिवारी—भाषा-विज्ञान, पृ० १८४।

अवहट्ठ

अपभ्रंश के बाद की और आधुनिक आर्यभाषा के पूर्व की भाषा इन दोनों भाषाओं के बीच की भाषा है। अर्थात् इसमें न तो पूरी तरह अपभ्रंश का रूप दृष्टिगत होता है और न आधुनिक भाषाओं का रूप ही पूरी तरह इस समय उभरकर सामने आया है। बीच का यह काल भाषा की दृष्टि से संक्रान्तिकाल है, जब भाषा में अपभ्रंश की प्रवृत्तियाँ घट रही थीं और आधुनिक भाषाओं का रूप स्पष्ट होता जा रहा था। 'सनेसरासक', "प्राकृत पैंगलम्, 'उक्ति-व्यक्ति-प्रकरण', 'वर्ण रत्नाकर', 'कीर्त्तिलता', ज्ञानेश्वरी' आदि की भाषा इसी प्रकार की है। सूक्ष्मता से इस भाषा का निरीक्षण करने पर पता चलता है कि इस संक्रान्तिकाल की भाषा में प्रारम्भ में अपभ्रंश की प्रवृत्तियाँ अधिक हैं किन्तु समय के साथ-साथ क्रमशः उनमें कमी आ जाती है और आधुनिक भाषाओं की प्रवृत्तियाँ बढ़ जाती हैं।

इस काल की भाषा के लिएपरवर्ती अपभ्रंश, पुरानी हिन्दी, देशीभाषा आदि विविध नामों का प्रयोग किया गया है। किन्तु कुछ लोगों के अनुसार अवहट्ठ नाम अधिक उपयुक्त है।

अवहट्ठ शब्द संस्कृत के 'अपभ्रंश' का विकसित रूप है। ज्योतिरेश्वर ठाकुर, विद्यापति, वंशीधर आदि ने अपभ्रंश के लिए अवहट्ठ शब्द का प्रयोग किया है। किन्तु इस सम्बन्ध में एक रोचक बात यह है कि अपभ्रंश के लिए अलग-अलग समयों में अलग-अलग शब्दों का प्रयोग किया गया है। ऐतिहासिक दृष्टि से देखने पर पता चलता है कि :

१. संस्कृत के आलंकारिकों ने अपभ्रंश भाषा के लिए सर्वत्र 'अपभ्रंश' शब्द का ही प्रयोग किया है।
२. प्राकृत के कवियों ने अपभ्रंश के स्थान पर 'अवहंस' शब्द का प्रयोग किया है।
३. अपभ्रंश के प्रारम्भिक कवियों (पुष्पदन्त आदि) ने भी अवहंस शब्द का ही प्रयोग किया है।
४. परवर्ती कवियों, अब्दुर्रहमान, वंशीधर (प्राकृत पैंगलम की टीका) और विद्यापति आदि, ने अपभ्रंश को अवहट्ठ कहा है।

इससे स्पष्ट होता है कि अपभ्रंश शब्द का प्रयोग-वैविध्य उस भाषा के विकास के साथ जुड़ा हुआ है। अनुमानतः पीछे के कवियों ने 'अवहट्ठ' शब्द का प्रयोग जान-बूझकर किया है, जो संभवतः अपभ्रंश से 'अवहट्ठ' के अंतर को बताने के लिए किया गया है। "कहना चाहें तो कह सकते हैं कि वह प्रयोग जान-बूझकर हुआ और अपभ्रष्ट की भी भ्रष्टता (भाषाशास्त्र की शब्दावली में विकास) दिखाने के लिए किया गया। यानी, इस शब्द के मूल में परिनिष्ठित

अपभ्रंश के और भी अधिक विकसित होने की भावना थी।"[1] इस प्रकार कुछ लोगों की दृष्टि में अवहट्ठ भाषा परिनिष्ठित अपभ्रंश से आगे बढ़ी हुई भाषा की परिचायक है जिसके मूल में पश्चिमी अपभ्रंश की अधिकांश प्रवृत्तियाँ काम करती हैं।

अवहट्ठ और मिथिला अपभ्रंश

अवहट्ठ को मिथिला अपभ्रंश बतलाने की चेष्टा भी हुई है। पं० शिवनन्दन ठाकुर इस मत के पोषक हैं। इस प्रकार अवहट्ठ को प्रान्तीय नामक देकर अपनी भाषा सिद्ध करने का प्रयास भी हुआ है। डॉ० शिवप्रसाद सिंह इसका विरोध करते हुए कहते हैं—"इसी तरह अवहट्ट को केवल प्रान्तीय प्रभावों को दृष्टि में रखकर क्षेत्रीय नाम भी नहीं देना चाहिए।"[2] यद्यपि द्विवेदी जी भी कीर्त्तिलता की भाषा को मिथिला के साथ देखते हैं तथापि परवर्ती खोजों से यह सिद्ध हो गया है कि अवहट्ट के मूल में पश्चिमी प्रवृत्तियाँ हैं। "यह वस्तुतः परिनिष्ठित अपभ्रंश की ही थोड़ी बढ़ी हुई भाषा का रूप है और इसके मूल में पश्चिमी अपभ्रंश की अधिकांश प्रवृत्तियाँ काम करती है।"[3]

अवहट्ठ और पिंगल

डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी आदि कुछ विद्वान् अवहट्ट को ही पिंगल मानते हैं। "राजपूताना में अवहट्ट पिंगल नाम से ख्यात थी और स्थानीय चारण कवि इसे सुगठित और सामान्य साहित्यिक भाषा मानते हुए इसमें भी काव्य-रचना करते थे, साथ ही डिंगल और राजस्थानी बोलियों में भी।"[4] पिंगल शौरसेनी अपभ्रंश से ही विकसित थी। इस प्रकार शौरसेनी अपभ्रंश का विकसित रूप ही, जिसे हम अवहट्ट के रूप में देख चुके है, पिंगल कहलाता था। अर्थात् अवहट्ट को ही राजस्थान में पिंगल नाम दिया गया था। "शौरसेनी अपभ्रंश का अग्रसरीभूत रूप यानी अवहट्ट राजस्थान में पिंगल नाम से प्रसिद्ध था।"[5]

दूसरी ओर ब्रजभाषा से भी पिंगल का सम्बन्ध बतलाया गया है। "हिन्दी क्षेत्र के कुछ भागों में, विशेषकर राजस्थान में, ब्रजभाषा के लिए पिंगल नाम प्रचलित है।"[5] ब्रजभाषा का आधार भी शौरसेनी अपभ्रंश है। "चौदहवीं शताब्दी में जिस समय राजस्थान में राजस्थानी भाषा का उदय हो रहा था,

---

१. डॉ० शिवप्रसाद सिंह—कीर्तिलता और अवहट्ठ भाषा, पृ० ६
२. वही, पृ० १२
३. वही, पृ० ६
४. डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी—कीर्तिलता और अवहट्ठ भाषा में उद्धृत, पृ० १२
५. डॉ० मोतीलाल मेनारिया—राजस्थान का पिंगल साहित्य, पृ० १३

लगभग उसी समय सूरसेन देश अथवा व्रजमंडल में व्रजभाषा विकसित हो रही थी, जिसका आधार शौरसेनी अपभ्रंश था।"[1]

इस प्रकार अवहट्ठ, पिंगल और व्रजभाषा का नैकट्य उन्हें एक ही भाषा मानने के लिए प्रेरित करता है। फलस्वरूप हम कह सकते हैं कि अवहट्ठ ही पिंगल है और यही पुरानी व्रजभाषा है।

अवहट्ठ और पुरानी हिन्दी

अपभ्रंश के लिए 'पुरानी हिन्दी' नाम का प्रयोग सर्वप्रथम पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने किया। उन्होंने प्रारम्भिक अपभ्रंश को संस्कृत प्राकृत के निकट माना है तथा परवर्ती अपभ्रंश को हिन्दी के निकट माना है। "पुरानी अपभ्रंश, संस्कृत और प्राकृत से मिलती है, पिछली पुरानी हिन्दी से।"[2] इस निकटता को दृष्टि में रखते हुए गुलेरी जी इसे ही पुरानी हिन्दी कहना पसन्द करते हैं। अवहट्ठ में हिन्दी के बीज सन्निहित है और इसी से हिन्दी का विकास हुआ है। इस प्रकार गुलेरीजी द्वारा बतलाई गई पुरानी हिन्दी वस्तुतः अवहट्ठ ही है। लेकिन परवर्ती अपभ्रंश के लिए पुरानी हिन्दी नाम बहुत अधिक मान्य नहीं हुआ। राहुल सांकृत्यायन भी सिद्धों की भाषा को पुरानी हिन्दी कहना पसंद करते हैं। इसलिए मेरी दृष्टि में भाषा-साम्य के आधार पर इसे 'पुरानी हिन्दी' कहना कोई अधिक अनुचित नहीं है।

अवहट्ठ का समय

सामान्यतः अवहट्ठ का समय ११ वीं से १४ वीं शताब्दी ईस्वी तक समझा जाता है। "हेमचन्द्रोत्तर काल की अपभ्रंश जिसे परिनिष्ठित अपभ्रंश से अलग करने के लिए अवहट्ठ नाम देना अधिक ठीक होगा, मोटे तौर पर ११ वीं शती से विकसित मानी जा सकती है।" ११वीं शती से अवहट्ठ की शुरुआत का कारण पहले ही बतलाया जा चुका है कि दसवीं शताब्दी तक का काल परिनिष्ठित अपभ्रंश का काल था किन्तु इसके बाद के साहित्य की भाषा में परिनिष्ठित अपभ्रंश के स्थान पर अवहट्ठ की प्रवृत्तियाँ स्पष्ट होने लगी थीं। इस प्रकार ११वीं शती से शुरु होकर यह भाषा १४वीं शती तक विद्यमान रही क्योंकि उसके बाद से आधुनिक भाषाओं का विकास प्रारम्भ हो गया था। "मेरा तात्पर्य केवल इतना है कि १४वीं शताब्दी के आसपास परवर्ती अपभ्रंश भी लोकभाषा के स्थान से हट

---

१. डॉ० मोतीलाल मेनारिया—राजस्थान का पिंगल साहित्य, पृ० १०
२. पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी—पुरानी हिन्दी, पृ० ११

गयी और उसका स्थान विभिन्न जनपदीय अपभ्रंशों से विकसित बोलियों ने ले लिया।"[1]

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि ११ वीं से १४ वीं शताब्दी तक का काल अवहट्ठकाल है। "इस प्रकार ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी से ईसा की चौदहवीं शताब्दी तक के काल को हम अवहट्ठ काल मानते हैं।"[2]

क्या अवहट्ठ नाम की कोई स्वतंत्र भाषा थी ?

अवहट्ठ से सम्बन्धित उपर्युक्त विवेचना साहित्यकारों की मान्यताओं पर आधारित है। किन्तु कुछ भाषाविद् अवहट्ठ में स्वतंत्र अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते। इस सम्बन्ध में डॉ० भोलानाथ तिवारी का कथन विचारणीय है कि "हर दो भाषाओं में सन्धिस्थल पर, जिनका आपस में माँ-बेटी का सम्बन्ध होता है, संक्रान्तिकालीन रूप होता है, उसके लिए किसी अलग नाम की आवश्यकता नहीं। सच पूछा जाय तो संक्रान्तिकालीन रूप के लिए नया नाम देना भ्रामक होता है। उससे उस भाषा के एक नई भाषा समझे जाने के भ्रम की सम्भावना रहती है, जबकि यथार्थतः यह भाषा कोई नई भाषा न होकर संधि का संक्रान्तिकालीन रूप मात्र होती है।"[3] भाषाशास्त्रियों की इस आपत्ति की ओर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी संकेत किया है—"इसलिए कुछ विद्वानों ने परिनिष्ठित अपभ्रंश से आगे बढ़ी हुई भाषा को अपभ्रंश न कहकर 'अवहट्ट' कहना शुरु किया है। परन्तु भाषाशास्त्रियों में यह शब्द अभी तक स्वीकृत नहीं हुआ है।"[4]

अवहट्ठ को स्वतंत्र भाषा मानने का सबसे बड़ा कारण कवियों की दृष्टि है। इस भाषा के प्रयोक्ता कवि स्वयं अपनी भाषा को अवहट्ठ भाषा कहना अधिक पसन्द करते हैं। कवियों का झुकाव जब अवहट्ठ नाम की ओर है तो हमें इस पर आपत्ति नहीं करनी चाहिए। विद्यापति ने अवहट्ट शब्द का प्रयोग किया है—

"देसिल वअना सब जन मिट्ठा
तें तैसन जम्पओं, अवहट्ठा"

इसी प्रकार ज्योतिरेश्वर ठाकुर ने (वर्णरत्नाकर में) और वंशीधर ने (प्राकृत पैंगलम् की टीका में) अवहट्ठ शब्द का ही प्रयोग किया है। अतः

१. डॉ० शिवप्रसाद सिंह—कीर्तिलता और अवहट्ट भाषा, पृ० २७
२. वही, पृ० २७
३. डॉ० भोलानाथ तिवारी—भाषा-विज्ञान
४. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी—हिन्दी साहित्य, पृ० ७५

२. देशी भाषा उस समय प्रचलित साहित्यिक भाषा से आगे की भाषा होती है।
३. आगे की भाषा होने के कारण इसे विद्वान् बिगड़ी हुई या अपभ्रष्ट भाषा कहते हैं।
४. इन बिन्दुओं के आधार पर अवहट्ठ को हम अपभ्रंश की देशी भाषा कह सकते है; तो १४ वीं शताब्दी के बाद की आधुनिक भाषाएँ अवहट्ठ का देशी रूप कही जा सकती हैं।

क्या अवहट्ठ देशी भाषा थी ?

अवहट्ठ को देशी भाषा मानने में कुछ लोग सन्देह करते हैं। उनके सन्देह का कारण विद्यापति की ये पंक्तियाँ है—

"देसिल वअना सब जन मिट्ठा
तें तैंसन जम्पओं, अवहट्ठा"

इन पंक्तियों के दो अर्थों के आधार पर अवहट्ठ को देशी भाषा मानने के सम्बन्ध में विद्वानों के दो मत है।

डॉ० हीरालाल जैन ने 'पाहुड़दोहा' की भूमिका में इस पर पर्याप्त विचार किया है और दोनों पक्षों का सतर्क विवेचन किया है। वह इनमें से प्रथम मत का समर्थन करते हैं और इन पंक्तियों का इस प्रकार अर्थ करते हैं—"देशी वचन सब लोगों को मीठे है, इसलिए उसी अपभ्रंश भाषा में रचना करता हूँ।"[1] डॉ० बाबूराम सक्सेना भी इसी अर्थ के समर्थक है। इस प्रकार ये विद्वान् देशी और अवहट्ठ को एक ही भाषा मानते है—"पूर्वोक्त अवतरण इस बातको सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि व्याकरणाचार्य जिस भाषा को अपभ्रंश कहते हैं उसी भाषा को उसमें रचना करने वाले कवि देशी भाषा कहते है।"[2]

लेकिन कुछ विद्वान् उपर्युक्त पंक्तियों का यह अर्थ नहीं मानते और देशी और अवहट्ठ को एक मानने के पक्ष में नहीं हैं। उनके अनुसार अर्थ इस प्रकार होना चाहिए—"देशी वचन सब लोगों को मीठे हैं, इसलिए उसी के समान अपभ्रष्ट भाषा में रचना करता हूँ।" इस मत के पोषक आ० रामचन्द्र शुक्ल, आ० हजारी-प्रसाद द्विवेदी, डॉ० देवेन्द्रकुमार जैन आदि है। डॉ० हीरालाल जैन ने स्वयं यह स्पष्ट किया है कि उनके द्वारा विद्यापति की इन पंक्तियों का किया गया अर्थ फ्रांस के विद्वान् डॉ० जुले ब्लॉक को भी मान्य नहीं था। उन्होंने इस सम्बन्ध में एक पत्र डॉ० जैन को लिखकर यह स्पष्ट करने की कोशिश की है कि इन

---

१. डॉ० हीरालाल जैन—'पाहुड़दोहा, भूमिका, पृ० ३४
२. वही, पृ० ४५

पंक्तियों से यह अर्थ नहीं निकलता।

इस दूसरे मत के पोषक विद्वानों का कथन कुछ अधिक तर्कसंगत प्रतीत होता है। इस आधार पर अवहट्ट को देसी से अलग माना जाना चाहिए। "मैं विद्यापति के कथन का उक्त अभिप्राय ही ठीक समझता हूँ। वह अपने पाठकों को यह कहकर आकृष्ट करना चाहते हैं कि वह भी (अवहट्ट भी) देसी वचन की तरह मीठी है।"[1]

हेमचन्द्र का मत

अपभ्रंश से सम्बन्धित हमारे अध्ययन का आधार हेमचन्द्र का व्याकरण ही है। हेमचन्द्र ने दो प्रकार की भाषाओं की चर्चा की है—परिनिष्ठित अपभ्रंश और ग्राम्य अपभ्रंश। उन्होंने परिनिष्ठित अपभ्रंश का व्याकरण लिखा है, जिसमें अधिकतर जैन कवियों ने रचनाएँ की हैं। लेकिन ग्राम्य अपभ्रंश को हम इसके साथ नहीं जोड़ सकते क्योंकि ग्राम्य अपभ्रंश, परिनिष्ठित अपभ्रंश की अपेक्षा कुछ आगे बढ़ी हुई भाषा है। अर्थात् यह भाषा अपभ्रंश के स्वरूप को छोड़कर आगे की प्रवृत्तियों को अपनाती जा रही थी। इसमें 'रासक', 'डोम्बिका' आदि की श्रेणी के लोकप्रचलित गेय और अभिनेय काव्य लिखे जाते थे। द्विवेदी जी इसी को आगे चलकर हिन्दी आदि आधुनिक भाषा में परिवर्तित होने की बात कहते हैं। "यह भाषा (ग्राम्य अपभ्रंश) परिनिष्ठित अपभ्रंश से आगे बढ़ी हुई (एडवांस्ड) बताई जाती है। इसी में बौद्धों के पद और दोहे, प्राकृत पैंगलम के उदाहृत अधिकांश पद्य, सन्देश-रासक आदि रचनाएँ लिखी गई हैं। वस्तुतः यही भाषा आगे चलकर आधुनिक देशी भाषाओं के रूप में विकसित हुई है।"[2] इसी 'आगे बढ़ी हुई' के लिए द्विवेदीजी ने 'अग्रसरी अपभ्रंश भाषा' का व्यवहार 'कीर्त्तिलता और अवहट्ट भाषा' की भूमिका में किया है।

अवहट्ठ विषयक समस्त विवेचन का निष्कर्ष

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी हेमचन्द्र की तरह अपभ्रंश के दो रूप मानते हैं—पहला रूप परिनिष्ठित अपभ्रंश का है जिसमें जैनों का साहित्य मिलता है किन्तु हिन्दी साहित्य के विकास की दृष्टि से इसका विशेष महत्त्व नहीं है क्योंकि इनके अनुसार एक तो यह पूरा साहित्य मध्य देश से बाहर लिखा गया और दूसरे, इस साहित्य में एक ऐसी धार्मिक दृष्टि की प्रधानता है जिसने मध्य देश के साहित्य को बहुत ही थोड़ा प्रभावित किया है। किन्तु इस परिनिष्ठित

---

१. डॉ० देवेन्द्रकुमार जैन—अपभ्रंश भाषा और साहित्य, पृ० १८

२. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी—हिन्दी साहित्य, पृ० १३

अपभ्रंश से बाद का, अर्थात् १०वीं शताब्दी से बाद का, साहित्य जिसे हेमचन्द्र ने ग्राम्य भाषा का साहित्य कहा है, हिन्दी (या आधुनिक आर्यभाषाओं) की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इसी से क्रमशः उनका विकास हुआ है। इस 'बढ़ी हुई' या अग्रसरीभूत अपभ्रंश को द्विवेदीजी अवहट्ट नाम दिए जाने के पक्ष में हैं।

अवहट्ठ नाम से भ्रांति नहीं

अब डॉ० भोलानाथ तिवारी की इस शंका का समाधान रह जाता है कि संक्रान्तिकाल की भाषा को अलग नाम दे दिए जाने से उसे भिन्न भाषा माने जाने का भ्रम हो जाता है। द्विवेदी जी इस सम्बन्ध में स्पष्ट करते हैं कि वस्तुतः दसवीं से चौदहवीं शताब्दी तक की भाषा को अपभ्रंश से भिन्न भाषा कहा जा सकता है। उन्हीं के शब्दों में—"दसवीं से चौदहवीं शताब्दी तक के समय में लोक-भाषा में लिखित जो साहित्य उपलब्ध हुआ है उसमें परिनिष्ठित अपभ्रंश से कुछ आगे की बढ़ी हुई भाषा का रूप दिखाई देता है।...इसलिए दसवीं से चौदहवीं शताब्दी के उपलब्ध लोकभाषा साहित्य को अपभ्रंश से भिन्न भाषा का साहित्य कहा जा सकता है।"[1] यह भिन्न भाषा क्या है? इसके लिए द्विवेदी जी का झुकाव अवहट्ट की ओर ही अधिक है।..."१४वीं शताब्दी के संस्कृत के दो पंडितों अर्थात् विद्यापति और ज्योतिरेश्वर ने इस भाषा को अवहट्ठ कहा है। इसलिए कुछ विद्वानों ने परिनिष्ठित अपभ्रंश से आगे बढ़ी हुई भाषा को अप-भ्रंश न कहकर 'अवहट्ठ' कहना शुरू किया है। परन्तु भाषाशास्त्रियों ने अभी तक यह शब्द स्वीकृत नहीं किया है।"[2] डॉ० नामवरसिंह भी परवर्ती अपभ्रंश के लिए 'अवहट्ठ' नाम दिए जाने के पक्ष में हैं, "परवर्ती अपभ्रंश को सुविधा के लिए कुछ विद्वानों के अवहट्ठ नाम दिया है, यद्यपि अवहट्ठ और अपभ्रंश में सुविधा की दृष्टि से कोई फर्क नहीं है, फिर भी प्रयोग की दृष्टि से 'अवहट्ठ' संज्ञा परवर्ती अपभ्रंश के ग्रन्थों में ही अधिक मिलती है। इसलिए किसी अन्य उपयुक्त नाम के अभाव में परवर्ती अपभ्रंश जैसे शब्द के लिए अवहट्ठ शब्द का प्रयोग किया जा सकता है।"[3]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि दसवीं से चौदहवीं शताब्दी की भाषा निश्चित रूप से अपभ्रंश से पृथक् थी, आज सुविधा के लिए उसे अवहट्ठ नाम से पुकारा जा सकता है। यही हेमचन्द्र की ग्राम्य-भाषा है, गुलेरीजी की पुरानी हिन्दी है और द्विवेदीजी की परवर्ती या अग्रसरीभूत अपभ्रंश है। संक्रांतिकाल

---

१. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी—हिन्दी साहित्य, पृ० ४३
२. वही, पृ० ४३
३. डॉ० नामवरसिंह—हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, पृ० ८३

की यह भाषा जहाँ एक ओर अपभ्रंश से दूर हट रही थी वहीं दूसरी ओर आधुनिक आर्यभाषाओं (हिन्दी आदि) के निकट आ रही थी। यह समय एक ओर अपभ्रंश का वढ़ाव काल है तो दूसरी ओर हिन्दी का स्वरूप-निर्धारण काल।

पुरानी हिन्दी

परवर्ती अपभ्रंश के लिए गुलेरीजी द्वारा दिए गए नाम की चर्चा भी यहाँ कर लेना उचित रहेगा। उन्होंने ११वीं शताब्दी तक अपभ्रंश का समय माना है और उसके बाद के काल को पुरानी हिन्दी का कहा है। "विक्रम की सातवीं शताब्दी से ग्यारहवीं शताब्दी तक अपभ्रंश की प्रधानता रही और फिर वह पुरानी हिन्दी में परिणत हो गई। इसमें देशी की प्रधानता है। विभक्तियाँ घिस गई हैं, खिर गई हैं...।"[1] परवर्ती अपभ्रंश के हिन्दी के निकट होने का यही कारण है। अतः भाषा के स्वरूप की दृष्टि से दोनों अपभ्रंशों में अन्तर है—"पुरानी अपभ्रंश संस्कृत और प्राकृत से मिलती है और पिछली पुरानी हिन्दी से।"[2] अब प्रश्न यह उठता है कि पुरानी हिन्दी का निश्चित समय क्या है? गुलेरीजी इस सम्बन्ध में दृढ़ शब्दों में कहते हैं कि दोनों के विभाजन सम्बन्धी कोई ठोस तर्क नहीं दिया जा सकता—"अपभ्रंश कहाँ समाप्त होती है और पुरानी हिन्दी कहाँ आरम्भ होती है, इसका निर्णय करना कठिन है किन्तु रोचक और बड़े महत्त्व का है। इन दोनों भाषाओं के समय और देश के विषय में कोई स्पष्ट रेखा नहीं खींची जा सकती। कुछ उदाहरण ऐसे हैं जिन्हें अपभ्रंश भी कह सकते हैं, पुरानी हिन्दी भी।...इसलिए यह नहीं कह सकते कि पुरानी हिन्दी का काल कितना पीछे हटाया जाय।"[3]

इसलिए इन दोनों के मध्य जो भी विभाजन किया जाता है वह अनुमान के आधार पर होता है। क्योंकि भाषा के विकास का कोई एक निश्चित समय नहीं बताया जा सकता। भाषा-परिवर्तन की प्रक्रिया क्रमशः होती है और वर्षों के प्रयोग के बाद नए रूप प्रचलित होते हैं। साथ ही पुराने रूप भी प्रचलित रहते हैं, इसलिए पुरानी हिन्दी का निश्चित समय नहीं बतलाया जा सकता। फिर भी अनुमान के आधार पर गुलेरीजी के अनुसार यह समय ११वीं शताब्दी के आसपास है।

पुरानी हिन्दी नाम क्यों ?

गुलेरीजी परवर्ती अपभ्रंश के लिए जान-बूझकर पुरानी हिन्दी नाम देते हैं।

---

१. पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी—पुरानी हिन्दी, पृ० ८
२. वही, पृ० ८
३. वही, पृ० ११

"ऐसी कविता के लिए 'पुरानी हिन्दी' शब्द जान-बूझकर काम में लिया गया है। पुरानी गुजराती, पुरानी राजस्थानी, पुरानी पश्चिमी राजस्थानी आदि नाम कृत्रिम हैं और वर्तमान भेद को पीछे की ओर ढकेलकर बनाए गए हैं। भेद-बुद्धि दृढ करने के अतिरिक्त इनका कोई फल भी नहीं है। कविता की भाषा प्रायः सब जगह एक सी ही थी। जैसे नानक से लेकर दक्षिण के हरिदासों की कविता ब्रजभाखा कहलाती थी वैसे ही अपभ्रंश को पुरानी हिन्दी कहना अनुचित नहीं, चाहे कवि के देशकाल के अनुसार रचना प्रादेशिक हो।"[1] इस प्रकार गुलेरीजी पुरानी हिन्दी को सर्व प्रदेशों की भाषा मानते हुए भाषा की एकरूपता को स्वीकार करते हैं।

संभवतः इसी कारण गुलेरीजी का मत अधिक स्वीकार्य नहीं हुआ। अब कोई अपभ्रंश के लिए पुरानी हिन्दी का प्रयोग नहीं करता। "व्यावहारिक दृष्टि से यह नाम कोई बुरा नहीं है, पर वर्तमान समय में भाषावार प्रान्तों के होने के कारण न तो इस प्रकार के नाम की कोई आवश्यकता रह गई है और न इसमें कोई ऐसा तत्त्व है जो प्रान्तीयता के आग्रह को शांत कर सके, जो कभी-कभी हिन्दी को उसका प्राप्य अधिकार देने में अवरोध पैदा करता है।"[2]

पुरानी हिन्दी की यहाँ चर्चा सिर्फ इसलिए की गई है कि इसका समय भी वही है जो अवहट्ठ का है। वस्तुतः अवहट्ठ या पुरानी हिन्दी नाम एक ही भाषा (परवर्ती अपभ्रंश) के लिए प्रयुक्त किए गए हैं।

पुरानी पश्चिमी राजस्थानी (पुरानी राजस्थानी—पुरानी गुजराती)

परवर्ती अपभ्रंश को डॉ० एल० पी० तेस्सीतोरी ने पुरानी पश्चिमी राजस्थानी नाम दिया है।[2] कुछ विद्वानों ने इसी को वर्तमान प्रान्तों के आधार पर 'पुरानी राजस्थानी' या 'पुरानी गुजराती' नाम दिए हैं। डॉ० तेस्सीतोरी इस विचारधारा का विरोध करते हैं। इनके अनुसार वस्तुतः यह भाषा एक ही है जिसे अलग-अलग नामों से जाना जाता रहा है—"जिस भाषा को मैंने 'प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी' नाम दिया है, और इन पृष्ठों पर जिसका विवरण देने जा रहा हूँ, वह शौरसेनी अपभ्रंश की पहली सन्तान है और साथ ही उन आधुनिक बोलियों की माँ है जिसे गुजराती तथा मारवाड़ी नाम से जाना जाता है।"[3] इनके अनुसार १५वीं शताब्दी तक ये दोनों एक ही भाषा के रूप में थीं, अलग-अलग नहीं हुई थीं —"दूसरे शब्दों में उक्त समय तक अलग नहीं हुई थी, इस-

---

१. प० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, पुरानी हिन्दी, पृ० १२
२. डॉ० शिवप्रसाद सिंह— कीर्तिलता और अवहट्ठ भाषा, पृ० २४
३. डॉ० एल० पी० तेस्सीतोरी, पुरानी राजस्थानी (अनु० नामवरसिंह), पृ० ३

लिए गुजराती जैसे एकांगी नाम की जगह एक ऐसे उपयुक्त नाम की आवश्यकता है जिससे प्राचीन मारवाड़ी का भी बोध हो सके।"[1]

अपभ्रंश से इसके अंतिम रूप से अलग होने का समय इन्होंने १३वीं शताब्दी के लगभग माना है। और लगभग १५वीं शताब्दी से मारवाड़ी और गुजराती अलग होने लगीं। तब से दोनों के साहित्य को आसानी से अलग-अलग देखा जा सकता है। लेकिन गुजराती प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी के प्रति निष्ठावान् रही तो मारवाड़ी ने "उस मूल स्रोत से एक हद तक अपना विलगाव कर लिया जो पूर्वी राजपुताना की पड़ोसी बोलियों और कुछ बातों में पंजाबी तथा सिंधी से मिलती-जुलती है। यही कारण है कि प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी अब तक केवल प्राचीन गुजराती कही जाती रही है।"[2] तेस्सीतोरी प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी की अंतिम सीमा १६वीं शताब्दी तक मानते हैं। "मुझे यह स्थापित करने में कोई कठिनाई नहीं दीख पड़ती कि प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी का युग कम-से- कम १६वीं शताब्दी तक की लम्बी अवधि तक जाकर समाप्त हुआ होगा।"[3]

तेस्सीतोरी की उपर्युक्त स्थापना प्राचीन राजस्थानी, जूनी गुजराती को भी भाषा के स्वरूप के आधार पर पूर्वोल्लिखित पुरानी हिन्दी, पिंगल, अवहट्ठ आदि के निकट खड़ी कर देती है। फलत: शौरसेनी अपभ्रंश से ही विकसित ये भाषाएं मूलत: परिनिष्ठित अपभ्रंश का ही एक रूप प्रदान करती हैं।

परवर्ती अपभ्रंश के लिए प्रयुक्त विविध नाम : एक दृष्टि

परवर्ती अपभ्रंश का स्वरूप इन विविध रूपों के आधार पर स्पष्ट किया जा सकता है। इसका समय १०००ई० से आगे की तीन शताब्दियों तक कहा गया है। इस कालखण्ड के अन्तर्गत पड़ने वाली भाषा को क्षेत्रीय आधार पर विविध नाम दिये गये हैं। किन्तु अन्ततोगत्वा इन सबके विवेचन के मूल में भाषा का लगभग एक ही स्वरूप दिखाई पड़ता है।

परिनिष्ठित अपभ्रंश और अग्रसरीभूत (एडवांस्ड) अपभ्रंश में अन्तर

अभी हमने देखा कि दसवीं शताब्दी तक अपभ्रंश का परिनिष्ठित रूप प्रयुक्त होता रहा किन्तु उसके बाद वह लोकभाषा की ओर झुकने लगी जिसे द्विवेदीजी ने अग्रसरीभूत या एडवांस्ड अपभ्रंश या पुरानी हिन्दी कहा है। अब

---

1. डॉ० एल. पी. तेस्सीतोरी—पुरानी राजस्थानी (अनु० नामवरसिंह), पृ० ३-४
2. वही, पृ० ८
3. वही, पृ० १०

हमें यह देखना है कि परिनिष्ठित और अग्रसरीभूत अपभ्रंश में क्या अन्तर है। अतः यहाँ उसी पर चर्चा की जाती है।

परिनिष्ठित अपभ्रंश का मूल आधार पश्चिमी प्रदेशों की बोली थी और ऐतिहासिक दृष्टि से यह शौरसेनी प्राकृत की परम्परा में थी इसलिए कुछ विद्वान इसे पश्चिमी अपभ्रंश और कुछ विद्वान् इसे शौरसेनी अपभ्रंश कहते हैं। इस परिनिष्ठित अपभ्रंश ने इस प्रकार शौरसेनी प्राकृत की कुछ विशेषताओं का निर्वाह करते हुए भी बहुत-सी नई विशेषताएँ प्राप्त कर ली थीं। डॉ० नामवर-सिंह के अनुसार—"अपभ्रंश की विशिष्टता केवल दो बातों में दिखाई पड़ती है—(क) ध्वनि-परिवर्तन की जो प्रवृत्ति प्राकृत में सामान्य थी वह अपभ्रंश में विशेष प्रबल अथवा प्रधान हो उठी; या (ख) अपभ्रंश में कुछ ध्वनि-परिवर्तन ऐसे भी हुए जो प्राकृत से सर्वथा नए थे।"[1] रूप-निर्माण की दृष्टि से भी अपभ्रंश ने नवीनता प्राप्त की थी। राहुलजी के शब्दों में—"उसने नए सुबन्तों और तिङन्तों की सृष्टि की है।"[2] "उच्चारण और व्याकरण के अतिरिक्त अपभ्रंश ने शब्द-कोश के क्षेत्र में भी विकास का नया चरण रखा। कुछ तो उसने तद्भव शब्दों में और भी ध्वनि-परिवर्तन करके अपनी छाप लगा दी और कुछ देशी शब्दों के ग्रहण से अपना कोश समृद्ध किया।"[3] डॉ० नामवरसिंह ने परिनिष्ठित अपभ्रंश की दो विशिष्ट प्रवृत्तियाँ बतलाई हैं :

१. यह भारतीय आर्यभाषा के विश्लिष्ट-संश्लिष्ट अवस्था के संधिकाल की सूचना देती है।
२. यह संस्कृत और प्राकृत की तरह 'व्याकरण-प्रधान भाषा' नहीं थी क्योंकि सरलीकरण की प्रबल प्रवृत्ति ने अपभ्रंश के ढाँचे को व्याकरण के जटिल नियमों से बहुत-कुछ मुक्त कर दिया।

"हेमचन्द्र की गिनाई गई ग्राम्य अपभ्रंश जिसे द्विवेदीजी ने अग्रसरीभूत अपभ्रंश कहा है वस्तुतः सामान्य लोक-जीवन में व्यवहृत होने वाली परिनिष्ठित अपभ्रंश का ही कोई-न-कोई रूप थी जिसमें संभवतः स्थानीय बोलियों का मिश्रण हो गया होगा।"[4] परिनिष्ठित अपभ्रंश से इसमें मुख्य भेद यह हुआ कि अपभ्रंश के पूर्वी और पश्चिमी जो दो भेद थे वे यहाँ तक आते-आते और भी अधिक गहरे होते गए। यहाँ तक कि तेरहवीं शताब्दी तक पहुँचते-पहुँचते इन दोनों रूपों ने अपनी-अपनी स्वतंत्र बोलियों का विकास किया। परिनिष्ठित अपभ्रंश

---

१. डॉ० नामवरसिंह—हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, पृ० ४५
२. राहुल सांकृत्यायन—हिन्दी काव्यधारा
३. डॉ० नामवरसिंह—हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, पृ० ५०
४. वही, पृ० ५२

की अपेक्षा परवर्ती अपभ्रंश में ध्वनि, रूप, शब्दकोश आदि की दृष्टि से पर्याप्त अन्तर आ गया। यहाँ तक कि ये आधुनिक भाषाओं की सामान्य प्रवृत्तियाँ निर्धारित करने में समर्थ रहीं। परवर्ती अपभ्रंश में परिनिष्ठित अपभ्रंश की अपेक्षा एक और अन्तर तत्सम शब्दों को लेकर आया। अपभ्रंश में अब तक संस्कृत के तत्सम शब्दों को लेने की प्रवृत्ति नहीं थी, वह हट गई और परवर्ती अपभ्रंश में तत्सम शब्दों का प्रयोग नए सिरे से होने लगा। "स्पष्ट ही दसवीं से तेरहवीं शताब्दी तक की बोलचाल की भाषा में संस्कृत तत्सम शब्दों का प्रयोग बढ़ने लगा था। इन कुछ शताब्दियों में अपभ्रंश से मिलती-जुलती भाषा पद्य का वाहन बनी रही और गद्य की भाषा तत्सम-बहुल हो गई। 'कीर्तिलता' में इसकी स्पष्ट सूचना मिलती है। धीरे-धीरे तत्सम शब्दों और उनके नये तद्भव रूपों के कारण भाषा बदली-सी जान पड़ने लगी और चौदहवीं शताब्दी के बाद वह बदल ही गई।"[1]

संक्षेप में परिनिष्ठित से आगे बढ़ी हुई अपरवर्तीभूत अपभ्रंश में मुख्य अन्तर दो बातों को लेकर दिखाई पड़ता है:

१. अपभ्रंश के पूर्वी और पश्चिमी भेद अधिक गहरे हुए और उनमें स्वतंत्र बोलियों के लक्षण दिखाई पड़ने लगे।
२. परवर्ती अपभ्रंश में संस्कृत के तत्सम शब्दों को ग्रहण किये जाने की प्रवृत्ति बढ़ गई जो परिनिष्ठित अपभ्रंश में नहीं थी।

क्या अपभ्रंश के साहित्य को हिन्दी में स्थान देना चाहिए?

आदिकाल का अध्ययन करते समय प्रत्येक व्यक्ति के मस्तिष्क में यह प्रश्न अवश्य उठता है कि क्या अपभ्रंश के साहित्य को हिन्दी में जगह मिलनी चाहिए? हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखने वाले विद्वानों ने इस प्रश्न को अपने ढंग से प्रस्तुत किया है। अपभ्रंश के स्वरूप, विकास, भेद आदि की चर्चा कर लेने के बाद अब इस प्रश्न का उत्तर दिया जा सकता है। इस सम्बन्ध में विद्वानों के विचार दो रूपों में सामने आते हैं—एक दल के लोग अपभ्रंश को हिन्दी के साथ देखे जाने के पक्ष में हैं और इन लोगों ने अपनी कृतियों, निबन्धों में उसे यह स्थान दिया भी है, जबकि दूसरा पक्ष हिन्दी के विशुद्ध रूप को ही महत्त्व देता है और उसमें अपभ्रंश को किसी प्रकार का स्थान देना उचित नहीं समझता। दोनों पक्षों पर अधिक कहने से पूर्व इस सम्बन्ध में विद्वानों के विचारों की एक ऐतिहासिक झलक देख लेना उचित रहेगा—एक लम्बे समय से हिन्दी साहित्य के अंतर्गत विद्वानों ने अपभ्रंश को भी यथोचित स्थान दिया है। इन लोगों ने अपभ्रंश को

१. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी—हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ० २२

हिन्दी का पूर्व-रूप स्वीकार किया है। मिश्रबन्धुओं ने अपनी पुस्तक 'मिश्र-बन्धु विनोद' में अपभ्रंश की विविध रचनाओं को स्थान दिया है। आ० रामचन्द्र शुक्ल ने भी अपभ्रंश की रचनाओं को अपने इतिहास में स्थान दिया है। "आदिकाल के भीतर अपभ्रंश की रचनाएँ ले ली गई हैं क्योंकि वे सदा से 'भाषा काव्य' के अंतर्गत ही मानी जाती रही हैं। कवि-परम्परा के बीच प्रचलित जनश्रुति कई ऐसे प्राचीन भाषा-काव्यों के नाम गिनाती चली आयी है जो अपभ्रंश में हैं—जैसे कुमारपालचरित और शार्ङ्गधरकृत हम्मीर रासो।"[1] अपभ्रंश पर काम करने वाले विद्वान् पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने भी इस संबंध में अपने विचार व्यक्त किए हैं। गुलेरीजी अपभ्रंश को हिन्दी साहित्य में स्थान देना ही पसंद नहीं करते बल्कि उसे पुरानी हिन्दी कहना ठीक समझते हैं। "अपभ्रंश कहाँ समाप्त होती है और पुरानी हिन्दी कहाँ आरम्भ होती है, इसका निर्णय करना कठिन है किन्तु रोचक और बड़े महत्त्व का है। इन दो भाषाओं के समय और देश के विषय में कोई स्पष्ट रेखा नहीं खींची जा सकती। कुछ उदाहरण ऐसे हैं जिन्हें अपभ्रंश भी कह सकते हैं, पुरानी हिन्दी भी।"[2] यही नहीं, गुलेरीजी अपभ्रंश की प्रधानता के आधार पर हिन्दी साहित्य के आदिकाल को अपभ्रंश काल कहना चाहते हैं। यह दूसरी बात है कि गुलेरीजी का दिया गया यह नाम विद्वानों को मान्य नहीं हुआ। इसी तरह महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने भी अपभ्रंश की रचनाओं को हिन्दी कहा है। अपनी पुस्तक 'हिन्दी काव्य-धारा' में राहुल जी कहते हैं—"अपभ्रंश के कवियों को विस्मरण करना हमारे लिए हानि की वस्तु है। यही कवि हिन्दी काव्यधारा के प्रथम स्रष्टा हैं।"[3] क्योंकि इनके अनुसार आठवीं सदी में जब अपभ्रंश का साहित्य पहले-पहल तैयार होने लगा था तब आधुनिक भाषाएँ उससे अलग अस्तित्व नहीं रखती थीं इसलिए अपभ्रंश द्राविड़ भाषी प्रदेश (तमिल, आंध्र, केरल, कर्नाटक आदि) को छोड़कर भारत के सभी प्रान्तों की एक सम्मिलित भाषा थी। वस्तुतः यह भाषा संस्कृत के शब्दों का भ्रष्ट रूप प्रस्तुत करती है इसलिए अपभ्रंश है और किसी भी स्थिति में हिन्दी से अलग नहीं कही जा सकती। इसी प्रकार डॉ० रामकुमार वर्मा भी अपभ्रंश साहित्य को हिन्दी में स्थान देते हैं। डॉ० वर्मा के अनुसार सिद्धों और जैन कवियों की भाषा को हिन्दी में स्वीकार किया जाना चाहिए क्योंकि इनकी भाषा पर हिन्दी की छाप दिखाई पड़ती है। उन्हीं के शब्दों में, "यही कारण है कि अर्द्धमागधी और नागर अपभ्रंश से निकलने वाली सिद्ध और जैन कवियों

१. आ० रामचन्द्र शुक्ल—हिन्दी साहित्य का इतिहास, भूमिका, पृ० ३
२. पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी—पुरानी हिन्दी, पृ० ११
३. राहुल सांकृत्यायन—हिन्दी काव्यधारा, भाग १—पृ० १२

की भाषा हिन्दी के प्रारम्भिक रूप की छाप लिए हुए है। इस प्रकार इसे हिन्दी साहित्य के अंतर्गत स्थान मिलना चाहिए।"[1] आ० हजारीप्रसाद द्विवेदी भी अपभ्रंश के साहित्य को हिन्दी में स्थान दिलाने के पक्ष में हैं। इनकी दृष्टि में केवल हिन्दी ही एकमात्र ऐसी भाषा है जिसमें अपभ्रंश की पूरी परम्पराएँ ज्यों-की त्यों सुरक्षित हैं अतः हिन्दी में उसे स्थान दिया जाना लाजिमी है।' इस प्रकार हिन्दी साहित्य में (अपभ्रंश की) प्रायः पूरी परम्पराएँ ज्यों-की-त्यों सुरक्षित हैं। शायद ही किसी प्रान्तीय साहित्य में ये सारी-की-सारी विशेषताएँ इतनी मात्रा और इस रूप में सुरक्षित हों। यह सब देखकर यदि हिन्दी को अपभ्रंश साहित्य से अभिन्न समझा जाता है तो इसे बहुत अनुचित नहीं कहा जा सकता।"[2] और भी "प्रकृत यही है कि इन साम्यों को देखकर यदि हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखकों ने अपभ्रंश-साहित्य को हिन्दी-साहित्य का ही मूल रूप समझा तो ठीक ही किया है।"[3]

अभिप्राय यह है कि हिन्दी में शुरु से लेकर आज तक अपभ्रंश के साहित्य की विवेचना हुई है और सभी लोग एकमत से उसे हिन्दी के अंतर्गत स्वीकार किए जाने के पक्ष में हैं। इतना होते हुए भी विद्वानों में अपभ्रंश के साहित्य को लिए जाने के कारण को लेकर पर्याप्त मतभेद है। शुक्लजी अपभ्रंश को इसलिए स्थान देते हैं क्योंकि वह शुरु से भाषा-काव्य कहलाता रहा है। किन्तु अपभ्रंश को भाषा-काव्य मानते हुए भी वे उसके साहित्य को दिल खोलकर हिन्दी में स्थान नहीं देते। वे आदिकाल के नामकरण, स्वरूप-निर्धारण आदि में अपभ्रंश से बचकर अपने विचार प्रकट करते हैं। अपभ्रंश से बचने की उनकी प्रवृत्ति उनके इतिहास में स्पष्ट दिखाई देती है जबकि वे आगे चलकर अपभ्रंश के साहित्य को पूरी तरह से नकार भी देते हैं। उसका उपयोग इतिहास में सिर्फ इसलिए करते हैं कि उसके माध्यम से यह प्रकट किया जा सके कि अपभ्रंश का व्यवहार कब से हो रहा था।" उक्तकाल (आदिकाल) के भीतर दो प्रकार की रचनाएँ मिलती हैं—अपभ्रंश की और देश भाषा (बोलचाल) की। अपभ्रंश की कई रचनाएँ तो जैनों के धर्मतत्त्व-निरूपण सम्बन्धी हैं जो साहित्य की कोटि में नहीं आतीं और जिनका उल्लेख केवल यह दिखाने के लिए किया गया है कि अपभ्रंश भाषा का व्यवहार कब से हो रहा था।'[4] अब यह कहने में कोई संकोच नहीं होना चाहिए कि अपभ्रंश को भाषा-काव्य मानते हुए भी शुक्ल जी उसे हिन्दी में नहीं लेना

---

१. डॉ० रामकुमार वर्मा—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० ६२
२. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी—हिन्दी साहित्य, पृ० १५
३. वही, पृ० १६
४. आ० रामचन्द्र शुक्ल—हिन्दी साहित्य का इतिहास, भूमिका, पृ० ३

चाहते। जहाँ तक अपभ्रंश से उनका मतलब सिद्ध होता है वहाँ तक तो वे उसके साहित्य को स्वीकार करते हैं किन्तु वे उस रेखा से एक पग भी आगे बढ़ाना नहीं चाहते।

गुलेरी जी अपभ्रंश को ही पुरानी हिन्दी कहने के पक्ष में हे। "कविता की भाषा प्रायः सब जगह एक-सी ही थी। जैसे नानक से लेकर दक्षिण के हरिदासों तक की भाषा ब्रजभाषा कहलाती, वैसे ही अपभ्रंश को भी 'पुरानी हिन्दी' कहना अनुचित नहीं चाहे कवि के देश-काल के अनुसार उसमे कुछ रचना प्रादेशिक हो।"[1] किन्तु द्विवेदीजी के मतानुसार यह मत भाषाशास्त्रीय और वैज्ञानिक नहीं हे क्योंकि भाषाशास्त्र के अनुसार इस परिनिष्ठित अपभ्रश से सीधे हिन्दी का विकास नही हुआ। इसलिए गुलेरीजी के विचार भी अधिक मान्य नहीं हुए। आज अपभ्रंश को अब कोई पुरानी हिन्दी नहीं कहता। ठीक यही तर्क राहुलजी के विचारों के खिलाफ़ दिया जा सकता हे। वैसे भी राहुलजी आठवीं सदी से ही हिन्दी का विकास मानते हे जो अब स्वीकार नहीं किया गया हे। जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका हे हिन्दी का विकास ११वीं शताब्दी से पूर्व किसी भी प्रकार नहीं ठहरता।

डॉ० रामकुमार वर्मा सिद्धों और जैनों की भाषा पर हिन्दी की छाप मानते हैं लेकिन यह छाप किस रूप मे हे इसे वे स्पष्ट नही कर पाये हे। एकदम हिन्दी न होने के कारण ही वर्माजी ने अपभ्रंश के साहित्य को स्वीकार करते हुए भी उन्हें संधिकाल के अंतर्गत अलग रखा है। आ० हजारीप्रसाद द्विवेदी अपभ्रंश को हिन्दी मे इसलिए स्थान देते ह क्योंकि वह हिन्दी का मूल रूप है जिसमें से क्रमशः हिन्दी का विकास हुआ। इस प्रकार द्विवेदीजी अपभ्रंश को हिन्दी का मूल रूप मानकर दोनो में ऐतिहासिक संबंध बतलाते है।

सारांश यह है कि अपभ्रंश को हिन्दी के साथ दिखलाते हुए भी प्रत्येक विद्वान् का उसे अपनाने का कारण भिन्न है। इसलिए हमारे सामने कोई समष्टिगत कारण उभरकर नही आता जो इसके अपनाए जाने का मुख्य कारण हो। इसलिए हम देखते है कि हिन्दी के कुछ विद्वान् ऐसे भी ह जो अपभ्रंश से पूरी तरह मुक्त हिन्दी को ही स्वीकार करने के पक्ष मे है। इनकी मान्यतानुसार अपभ्रंश की प्रकृति अलग है और हिन्दी की प्रकृति अलग है, अत. दोनो को अलग करके देखना ही ठीक है। ये विद्वान् हिन्दी साहित्य के आदिकाल की शुरुआत इतनी पहले से नहीं मानते अर्थात् हिन्दी-साहित्य का विकास १४वीं शताब्दी से ही मानते हैं, उसके पहले से यानी १०-११वीं शताब्दी से नहीं।

अपभ्रंश भाषा और साहित्य पर कार्य करने वाले विद्वान् डॉ० देवेन्द्रकुमार

१. प० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी—पुरानी हिन्दी

जैन आठवीं सदी की अपभ्रंश रचनाओं में और दसवीं सदी की रचनाओं में भाषा की दृष्टि से कोई भिन्नता नहीं देखते। अर्थात् जब दसवीं शताब्दी की अपभ्रंश रचनाओं में पूर्ववर्ती अपभ्रंश की रचनाओं से कोई फर्क नहीं है तो फिर उन्हें हिन्दी में कैसे स्वीकार किया जा सकता है। उन्हीं के शब्दों में "इस सम्बन्ध में मेरी धारणा यह है कि १०वीं सदी की प्रथम श्रेणी की रचनाओं से ८वीं की अपभ्रंश रचनाओं में भाषा की दृष्टि से कोई भिन्नता नहीं है, इसलिए उन्हें हिन्दी काल के खाते में डालना ठीक नहीं।"[1] डॉ० देवेन्द्रकुमार जैन की सम्मति में छठी से बारहवीं सदी तक के समय को अपभ्रंश काल कहना चाहिए। उसके बाद अपभ्रंश जब पुरानी हिन्दी में परिवर्तित होने लगी तो मध्य के दो सौ वर्षों की अवधि को संधिकाल मानना चाहिए और उसके बाद हिन्दी की शुरूआत मानी जानी चाहिए। "इन तथ्यों को ध्यान में रखते हुए अधिक उपयुक्त यही है कि···६ठी से १२वीं सदी तक अपभ्रंश काल, उसके बाद दो सौ वर्ष सन्धिकाल, और तदनन्तर आधुनिक भाषाओं का युग माना जाये।···इसलिए इस काल की भाषा को अन्तिम प्राकृत या पुरानी हिन्दी कहने की अपेक्षा अपभ्रंश कहना ही अधिक संगत है।"[2] यानी देवेन्द्रकुमारजी ने संक्रान्तिकालीन भाषा, जिसकी चर्चा हम पहले ही पर्याप्त मात्रा में कर चुके हैं को सन्धिकाल की भाषा कहकर अलग खाते में डाल दिया है। वह इनके अनुसार हिन्दी नहीं है। जब वह हिन्दी नहीं है तो उसे हिन्दी साहित्य के आदिकाल में स्थान नहीं दिया जाना चाहिए।

डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त भी अपभ्रंश को हिन्दी में स्वीकार किये जाने के पक्ष में नहीं हैं। यद्यपि इन्होंने इस सम्बन्ध में प्रत्यक्ष कोई मत प्रकट नहीं किया है तथापि हिन्दी के विकास की चर्चा करते हुए उन्होंने अप्रत्यक्ष रूप में यही बात कही है। गुप्तजी हिन्दी का विकास बहुत बाद में (१५वीं शताब्दी के लगभग) मानते हैं। हेमचन्द्र ने परिनिष्ठित और ग्राम्य अपभ्रंशों की चर्चा की है, इसे हम पहले ही देख चुके हैं। द्विवेदीजी के अनुसार यही ग्राम्य या अग्रसरीभूत अपभ्रंश आगे चलकर हिन्दी में परिवर्तित हुई। गुप्तजी का तर्क यह है कि जब द्विवेदीजी यह कहते हैं कि हेमचन्द्र के द्वारा बताई गई ग्राम्य अपभ्रंश आगे चलकर हिन्दी में परिवर्तित हुई, इसका सीधा-सा मतलब यह है कि हेमचन्द्र के समय तक ग्राम्य के रूप में अपभ्रंश भाषा ही प्रयुक्त हो रही थी। हेमचन्द्र का समय १०८८-११७२ ई० है अर्थात् १२वीं शताब्दी तक ग्राम्य भाषा ही प्रयुक्त हो रही थी। यही आगे चलकर हिन्दी बनी। इससे आगे चलकर का अर्थ कम-से-कम एक शताब्दी तो लेना ही चाहिए—इसका अर्थ यह हुआ कि १३वीं शताब्दी

---

१. डॉ० देवेन्द्रकुमार जैन—अपभ्रंश भाषा और साहित्य, पृ० २५
२. वही, पृ० २६

तक हिन्दी का विकास नहीं हुआ था। इसलिए हिन्दी का विकास भी तभी से मानना चाहिए और उससे पहले का साहित्य हिन्दी के अन्तर्गत नहीं लिया जाना चाहिए। ठीक ऐसे ही विचार प्रो० शिवकुमार शर्मा ने अपनी इतिहास की पुस्तक 'हिन्दी साहित्य : युग और प्रवृत्तिया' में व्यक्त किये है।

अपभ्रंश के साहित्य को हिन्दी में स्वीकार किए जाने के सम्बन्ध में पक्ष और विपक्ष के विचारों को जान लेने के बाद हम किसी परिणाम पर पहुँचने का प्रयास कर सकते है। द्विवेदीजी ने हिन्दी के काव्य-रूपों के विकास पर चर्चा करते समय इस प्रश्न को बड़ी गहराई से छुआ है। उनके अनुसार अपभ्रंश के कुछ ग्रन्थ ऐसे अवश्य है जिनको हिन्दी के इतिहास में स्थान दिया जाना चाहिए। वे बार-बार प्रश्न की चर्चा करते हुए इस बात पर जोर देना चाहते है कि परवर्ती अपभ्रंश का साहित्य जो परिनिष्ठित अपभ्रंश की अपेक्षा अधिक एडवांस्ड है प्रकृति की दृष्टि से अपभ्रंश की अपेक्षा हिन्दी के अधिक निकट है। ऊपर हम परिनिष्ठित और अग्रसरीभूत अपभ्रंश के अन्तर को स्पष्ट कर चुके है जो इस बात को पुष्ट करता है कि १०वी से १४वी शताब्दी की भाषा मूलत: परिनिष्ठित अपभ्रंश का बढ़ाव होते हुए भी थोड़ी भिन्न भाषा है। यही आधुनिक भाषाओ के प्रारम्भ में भी पाया जा सकता है इसलिए इस साहित्य को हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत रखा जा सकता है जिसके आधार पर हिन्दी साहित्य का विकास १०वी शताब्दी से स्वीकार किया जा सकता है। शुक्लजी ने भी इसी समय १०५० संवत् (९९३ ई०) से हिन्दी का आरम्भ माना है।

अपभ्रंश के परवर्ती रूप (ग्राम्य अपभ्रंश) को हिन्दी की थाती न मानने वाले विद्वान् यदि ठण्डे दिमाग से विचार करते तो इस प्रश्न की गुत्थी सहज ही सुलझाने मे समर्थ हो सकते थे। ग्राम्य भाषा से ही हिन्दी का विकास हुआ इसके लिए कोई विद्वान् शंका नहीं करता। यह सच है कि यह ग्राम्य या परवर्ती अपभ्रंश हिन्दी नहीं है लेकिन यह भी उतना ही सच है कि यह भाषा पूरी तरह अपभ्रंश भी नहीं है। १०वी से १४वी शताब्दी की भाषा एक ओर अपभ्रंश के प्रभाव से मुक्त होती प्रतीत होती है तो दूसरी ओर आधुनिक आर्यभाषाओं की ओर झुकती हुई नजर आती है। भाषा एक ही है लेकिन इसी को कुछ संधि-काल की भाषा कहते है, कुछ पुरानी हिन्दी कहते है, कुछ अग्रसरीभूत (एडवान्स्ड) या परवर्ती अपभ्रंश कहते है तो कुछ अवहट्ट भाषा कहते है। जैसा कि बताया जा चुका है इस भाषा मे परिनिष्ठित अपभ्रंश की अपेक्षा आधुनिक भाषाओं की प्रवृत्तिया अधिक है, इसलिए इन ग्रंथो को अपभ्रंश मे अपने भाग्य के भरोसे छोड़ देने की अपेक्षा हिन्दी मे स्थान देना चाहिए। दूसरे, हिन्दी का सीधा सम्बन्ध परि-निष्ठित अपभ्रंश से नहीं है बल्कि परवर्ती अपभ्रंश से अधिक है। इसी के साहित्य की प्रवृत्तियो को हिन्दी मे आत्मसात् किया गया है इसलिए हिन्दी

साहित्य के प्रवृत्यात्मक विकास की दृष्टि से भी इसे हिन्दी के साथ ही देखा जाना चाहिए। जैसे बच्चे का विकास केवल जन्म के बाद ही नहीं होता बल्कि उससे पूर्व माता के गर्भ से ही होने लगता है। और हम जैसे उसके जैविक विकास को सिर्फ जन्म के बाद से ही न देखकर गर्भधारण के समय से ही देखते हैं उसी तरह हिन्दी के विकास की चर्चा उसके जन्म या अस्तित्व-ग्रहण करने के बाद से न की जाकर उससे पहले से ही, जब से उसकी प्रवृत्तियों का निर्धारण हो रहा था, तब से ही करना चाहिए।

निष्कर्ष यह है कि हेमचन्द्र के द्वारा गिनाई गई परिनिष्ठित अपभ्रंश विशुद्ध अपभ्रंश है जिसको हिन्दी में स्थान देना ठीक नहीं है किन्तु दूसरी अपभ्रंश जिसे उन्होंने ग्राम्य अपभ्रंश नाम दिया है लोकभाषा की ओर झुकी हुई होने से परिनिष्ठित अपभ्रंश से दूर हो गई है लेकिन आधुनिक आर्यभाषाओं (हिन्दी आदि) की ओर अधिक झुकी हुई है, इसलिए इस परवर्ती या ग्राम्य अपभ्रंश को अनिवार्यतः हिन्दी के साथ देखा जाना चाहिए।

अपभ्रंश के प्रबन्धकाव्यों की रचना-पद्धति की विशेषताएँ

अपभ्रंश के प्रबन्धकाव्य एक विशिष्ट शैली में लिखे गए। उनकी संरचना-पद्धति संस्कृत से कुछ भिन्न और स्वतन्त्र रूप में दृष्टिगोचर होती है। इसी पद्धति को आदिकालीन अपभ्रंश के प्रबन्धकाव्यों में, विशेषतः जैन प्रबन्धकाव्यों में अपनाया गया है। वे इस प्रकार हैं :

संधि—संस्कृत महाकाव्यों की सर्गबद्ध शैली की भाँति अपभ्रंश के प्रबन्ध-काव्य भी अनेक सर्गों में विभक्त रहते हैं। इन सर्गों को ही संधि कहा जाता है। नाथूराम प्रेमी के अनुसार "अपभ्रंश काव्यों में सर्ग की जगह प्रायः 'सन्धि' का व्यवहार किया जाता है। प्रत्येक सन्धि में अनेक कड़वक होते हैं और एक कड़वक आठ यमकों का तथा एक यमक दो पदों का होता है। एक पद में यदि वह पद्धड़िया हो तो १६ मात्राएँ होती हैं। हेमचन्द्र के अनुसार चार पद्धड़ियों यानी आठ पंक्तियों का कड़वक होता है। हर एक कड़वक के अन्त में घत्ता या ध्रुवक होता है।[1] इस प्रकार सर्ग ही अपभ्रंश में सन्धि कहलाता है। प्रत्येक सन्धि में छन्द-योजना की दृष्टि से जो अनिवार्यताएँ हैं वे प्रेमीजी के कथन से स्पष्ट हो जाती हैं। अर्थात् एक पद १६ मात्राओं का होता है और ऐसे १६ मात्राओं के युग्म यमक कहलाते हैं। ऐसे आठ युग्मों (यमकों) से कड़वक की रचना होती है। कड़वकों के अन्त में घत्ता होता है। कभी-कभी यह घत्ता संधि के प्रारम्भ में भी मिलता है। "कहीं-कहीं पर सन्धि के प्रारम्भ में दुवई या घत्ता भी मिलता है

1. नाथूराम प्रेमी—जैन साहित्य और इतिहास, पृ० २०० (पाद-टिप्पणी)

जिसमें संक्षेप से संधि का सार दिया रहता है।'[1]

कड़वक

अपभ्रंश प्रबन्धकाव्यों में कड़वकों से संधि की रचना की जाती है। कई कड़वक मिलकर एक संधि बनाते हैं। एक सन्धि में कितने कड़वक होने चाहिए इस संबंध में कोई विशिष्ट नियम नहीं है। कड़वक का मुख्य छंद क्या है, यह भी एक विचारणीय प्रश्न है। साधारणतया कड़वक में कुल आठ यमक या सोलह पंक्तियाँ हुआ करती हैं। हेमचन्द्र ने एक पद के लिए १६ मात्राओं के पद्धड़िया का होना अनिवार्य बतलाया है। इससे यह बात निश्चित हो जाती है कि कड़वक १६ पंक्तियों का यानी चार छन्दों का हुआ करता है। हेमचन्द्र की तरह स्वयम्भू ने भी चार छन्दों के समूह को कड़वक कहा है चाहे वह पद्धड़िया हो या कोई अन्य। और स्वयम्भू पद्धड़िया के प्रत्येक चरण की मात्रा सोलह मानता है। इससे यह पता चलता है कि एक कड़वक में चार पद्धड़िया होनी चाहिए। ऐसा लगता है प्रारम्भ में कड़वक के लिए पद्धड़िया का होना अनिवार्य था पर बाद में शायद इस नियम में शिथिलता आ गई और किसी भी सोलह मात्राओं के छंद को कड़वक में लिया जाने लगा। जैकोबी और अलसफ़ोर्ड पद्धड़िया, अडिल्ल, वहनक और पारणक—इन चार छंदों को मुख्य मानते हैं।[2] डॉ० देवेन्द्रकुमार जैन के अनुसार "पद्धड़िया के दो अर्थ हैं—(क) खास छन्द और (ख) उन सभी छंदों को पद्धड़िया कह सकते हैं, जिनका कड़वक में प्रयोग होता है।"[3] कड़वक संबंधी सभी बातों का सारांश इस प्रकार है :

१. कड़वकों से संधि की रचना होती है।
२. एक कड़वक १६ पंक्तियों का या चार छन्दों का होता है।
३. इसके प्रत्येक पद में प्रायः (पंक्ति या चरण में) १६ मात्राएँ हुआ करती हैं।
४. १६ मात्राओं का पद्धड़िया (पज्झटिका) ही पहले प्रयुक्त होता था पर बाद में इस नियम में शिथिलता आ गई और कोई भी १६ मात्राओं का छन्द इसके लिए प्रयुक्त होने लगा। मुख्य रूप से कड़वक के छन्द हैं—पद्धड़िया, वहनक, अडिल्ल और पारणक।

सम्भव है पद्धड़िया का अधिक प्रयोग होने के कारण इन सभी को पद्धड़िया बंध कहा जाने लगा होगा।

---

१. हरिवंश कोछड़—अपभ्रंश साहित्य, पृ० ६५
२. 'पउमचरिउ' की भूमिका—'मीटर' शीर्षक—अपभ्रंश भाषा और साहित्य, पृ० २३६
३. डॉ० देवेन्द्रकुमार जैन—अपभ्रंश भाषा और साहित्य, पृ० २४६

घत्ता—संधियों के प्रारम्भ में तथा प्रत्येक कड़वक के अन्त में घत्ता का प्रयोग किया जाता है। "सन्ध्यादौ कडवकान्ते च ध्रुवं स्यादिति ध्रुवा, ध्रुवकं, घत्ता च" के अनुसार इसे ध्रुवा, ध्रुवक भी कहते हैं। अपभ्रंश काव्यों में कड़वक के अन्त में घत्ता का होना अनिवार्य है। इस प्रकार घत्ता एक प्रकार से कड़वक की समाप्ति की सूचना देने वाला छन्द है। घत्ता के सम्बन्ध में हम डॉ० देवेन्द्रकुमार जैन के शब्दों में निम्न बातें कह सकते हैं :

१. कड़वक के अंत में प्रयुक्त छंद घत्ता कहलाता है।
२. मुख्य रूप से दुवई, चतुष्पदी और षट्पदी, इसके तीन भेद हैं।
३. (घत्ता के रूप में प्रयुक्त) इन छन्दों का अन्यत्र भी प्रयोग किया जा सकता है, कडवक के अन्त में आने पर इन्हें घत्ता कहते हैं।
४. इनके कितने ही भेद-प्रभेद किए जा सकते हैं पर उनका आधार 'दो पाद' ही होता है।
५. पिंगल का घत्ता और हेमचन्द्र का छड्डिणी एक ही छन्द है।"[1]

संस्कृत में प्रबन्धकाव्य-लेखन की पद्धति सर्वथा भिन्न थी। उनमें सर्गबद्धता तो अपभ्रंश-काव्यों की संधियों के समान ही थी किन्तु प्रत्येक सर्ग का व्यवस्थापन अपनी सीमाओं में भिन्न रूप में होता था। एक छन्द का निर्वाह एक सर्ग में किया जाता था और समाप्ति में छन्द परिवर्तन कर अगले सर्ग की कथा का संकेत दिया जाता था। अपभ्रंश के कड़वकों में छन्द-वैविध्य अपने आप आ गया। यहाँ कडवक के बाद घत्ता के रूप में अन्य छन्द दृष्टिगत होते हैं। कभी-कभी कड़वक के प्रारम्भ में भी घत्ते के रूप में अन्य छन्द विद्यमान रहता है। इस प्रकार सूफी कवियों के प्रेमकाव्यों, तुलसी के रामचरितमानस और उनसे भी पहले जैनों के चरितकाव्यों, सिद्धों के दोहाकोशों आदि के लिए प्रबन्ध की दृष्टि से एक नई दिशा अपभ्रंश के प्रबन्धों ने प्रदान की थी। इसी प्रकार संधियों की संख्या आदि के द्वारा भी प्रबन्ध-रचना में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए जिन्होंने हिन्दी-प्रबन्धकाव्यों की रचना-पद्धति के लिए महत्त्वपूर्ण भूमिका का कार्य किया है। अपभ्रंश के प्रबन्धकों की ये विशेषताएँ हिन्दी साहित्य के आदिकाल के साहित्य के स्वरूप को समझने के लिए जाननी जरूरी हैं।

अपभ्रंश और हिन्दी

अपभ्रंश साहित्य को हिन्दी में स्थान देना चाहिए या नहीं, इस प्रश्न पर अभी हमने विचार किया है। इसमें सन्देह नहीं कि परवर्ती अपभ्रंश स्वरूप की दृष्टि से इतनी विशिष्ट हो गई थी कि वह संस्कृत-प्राकृत से बहुत दूर होकर आधुनिक

---

1. डॉ० देवेन्द्रकुमार जैन—अपभ्रंश भाषा और साहित्य, पृ० २४६

भाषाओं के निकट पहुँच गई। इस भाषा के साहित्य को हिन्दी साहित्य में स्थान दिया जाना चाहिए। यदि हम ऐसा नहीं करते हैं तो अपनी तो हानि होती ही है, अपभ्रंश के साथ भी अन्याय करते हैं। राहुलजी के शब्दों में "बेचारी प्राचीनतम हिन्दी (अपभ्रंश) ने दादी और माँ के पल्ले को पकड़े रखा, लेकिन आगे चलकर उसके बोलने वालों ने वास्तविक भाषा (क्रिया, विभक्ति) को तो रखा मगर परदादी-संस्कृत के शब्दों के शुद्ध रूप (तत्सम) को खूब तत्परता से उधार लेना शुरू किया। लोग इतनी मात्रा में तद्भव रूपों को भूलते गए जिसका परिणाम है, आज भी यह दिक्कत।"[1] इसलिए हमारा अपभ्रंश के प्रति एक निश्चित कर्तव्य है, यदि हम ऐसा नहीं करते हैं तो इससे बढ़कर कृतघ्नता क्या होगी ? "दूसरी तरफ हिन्दीभाषियों का अपभ्रंश के प्रति क्या कर्तव्य है इसे आप अपने दिल से पूछ सकते हैं 'जिसके लिए किया वही कहे चोर' वाली कहावत है, बेचारी अपभ्रंश हमारे लिए मारी गई।"[2]

यह सच है कि अपभ्रंश साहित्य को हिन्दी के साथ देखा जाना चाहिए। किन्तु इनसे समस्त कठिनाई दूर नहीं हो जातीं। आधुनिक भारतीय भाषाओं के कारण भी एक कठिनाई प्रकट होती है। हिन्दी की ही तरह अन्य आधुनिक भाषाओं का विकास भी अपभ्रंश से ही हुआ है। इसलिए परवर्ती अपभ्रंश के साहित्य के उत्तराधिकार की अधिकारिणी हिन्दी की ही भाँति अन्य भाषाएँ भी हैं। इसलिए हिन्दी के साथ ही इस साहित्य को देखने पर अन्य भाषाएँ अपने उत्तराधिकार से वंचित हो जाती हैं। इस कठिनाई को देखते हुए एक सुझाव यह दिया गया कि "इसलिए १२ वीं सदी के बाद के दो सौ वर्षों को सन्धिकाल समझना चाहिए, क्योंकि हिन्दी की तरह दूसरी नव्य भारतीय आर्यभाषाएँ भी अपभ्रंश के इस उत्तराधिकार को संभालना चाहती हैं। सच पूछिए तो हिन्दी की अपेक्षा इसकी योग्यता उनमें अधिक है। इस काल को हिन्दी काल मानना उसके क्षेत्र को संकुचित करना है। इसलिए इस काल की भाषा को अंतिम प्राकृत या पुरानी हिन्दी कहने की अपेक्षा अपभ्रंश कहना ही अधिक संगत है।"[3] इसी प्रकार राहुलजी भी अपभ्रंश को सभी आधुनिक भाषाओं की समन्वित थाती मानते हैं— "हम जब इन पुराने कवियों की भाषा को हिन्दी कहते हैं, तो इस पर मराठी, उड़िया, बँगला, आसामी, गोरखा, पंजाबी, गुजराती भाषा-भाषियों को आपत्ति हो सकती है। लेकिन हमारा यह अभिप्राय हरगिज नहीं है, कि यह पुरानी भाषा मराठी आदि की अपनी साहित्यिक भाषा नहीं है। उन्हें भी उसे अपना

1. राहुल सांकृत्यायन—हिन्दी काव्यधारा, भाग, 1, पृ० 10
2. वही, पृ० ६
३. डॉ० देवेन्द्रकुमार जैन—अपभ्रंश भाषा और साहित्य, पृ० २५

कहने का उतना ही अधिकार है, जितना हिन्दी भाषा-भाषियों को। वस्तुतः यह सिद्ध सामन्तयुगीन कवियों की भाषा उपरोक्त सारी भाषाओं की सम्मिलित निधि है।"[१] कुल मिलाकर विद्वानों की यह धारणा रही है कि अपभ्रंश पर हिन्दी की ही तरह सभी आधुनिक भाषाओं का समान अधिकार है। फिर भी, कुछ ऐसे बिन्दु हैं जो अन्य आधुनिक भाषाओं की अपेक्षा अपभ्रंश पर हिन्दी का दावा अधिक सिद्ध करते हैं। ये बिन्दु क्या हैं, अब हम इन्हीं पर विचार करेंगे।

१. अपभ्रंश के तीन बंध—अपभ्रंश के साहित्य में तीन प्रकार के बंध पाए जाते हैं—दोहाबंध, पद्धड़िया बंध और गेय पद बंध। दोहा या दूहा अपभ्रंश का अपना बंध है। शुक्ल जी ने कहा है—"उस समय जैसे 'गाथा' कहने से प्राकृत का बोध होता था वैसे ही 'दोहा' या दूहा कहने से अपभ्रंश या प्रचलित काव्यभाषा का पद्य समझा जाता था।"[२] इस प्रकार अपभ्रंश में सदैव दोहा ही मुक्तक काव्य का प्रतीक रहा है। शृंगारपरक, वीरतापरक और नीतिपरक—ये तीनों प्रकार के दोहे अपभ्रंश में मिलते हैं। हिन्दी साहित्य के आदिकाल के साहित्य में भी हमें दोहों में इन रूपों के दर्शन होते हैं। 'ढोलामारू का दूहा' में इसके शृंगारी रूप के दर्शन हमें होते हैं। सन्तों के साहित्य के अन्तर्गत दोहे का धार्मिक और नीति-परक रूप हमें दिखाई देता है तो वीरतापरक दोहे तो आदिकाल की मुख्य विशेषता हैं ही। यही दोहा भक्तिकाल को प्रबन्ध और मुक्तक दोनों स्रोतों से मिला है जिसका प्रयोग वहाँ पर दोनों रूपों में खुलकर हुआ है।

पद्धड़िया बंध—हिन्दी साहित्य के बृहत् इतिहास के अनुसार यह प्रबन्ध-काव्य शैली ही है। प्रबन्ध-काव्यों की शैली को पद्धड़िया बंध इसलिए कहा जाता है कि ये प्रायः पद्धड़िया या पद्धरि छन्द के कड़वकों में निबद्ध होते थे। जिसमें प्रत्येक कड़वक के बाद घत्ता का प्रयोग किया जाता था।"[३] अपभ्रंश में इस प्रकार के चरितकाव्य लिखने की परम्परा शुरू से ही रही है। पद्धरि १६ मात्राओं का एक मात्रिक छन्द है। इसके नाम पर लिखे जाने वाले काव्यों को पद्धड़िया बंध कहा गया है। इन काव्यों को लिखने की एक विशेष पद्धति थी।" इन चरित-काव्यों में पद्धरि या पद्धड़िया छंद की आठ-आठ पंक्तियों (कभी-कभी कुछ कम ज्यादा) के बाद घत्ता दिया रहता है, इसे कड़वक कहते हैं।"[४] द्विवेदी-जी के अनुसार पद्धरि छंद के बाद घत्ता देने की यह प्रथा पश्चिमी भारत में प्रचलित थी, जबकि पूर्वी भारत में चरितकाव्य के लिए चौपाई और दोहों का

---

१. राहुल सांकृत्यायन—हिन्दी काव्यधारा, भाग १, पृ० ११-१२
२. आ० रामचन्द्र शुक्ल—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ३
३. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, प्रथम भाग, पृ० १४१
४. आ० हजारीप्रसाद द्विवेदी—हिन्दी साहित्य, पृ० १२

अधिक प्रयोग होता था। इसी प्रवृत्ति को हिन्दी साहित्य में (सिद्धों, नाथों, सूफियों में) ज्यों-का-त्यों अपना लिया गया। महाकवि तुलसीदास ने तो दोहा-चौपाई की इस शैली को 'रामचरितमानस' के माध्यम से चरम शिखर पर पहुँचा दिया।

गेय पद बंध—यही गीतों की शैली है। अपभ्रंश में गेय पदों का साहित्य विपुल मात्रा में मिलता है। परवर्ती अपभ्रंश या ग्राम्य अपभ्रंश में रासक, डोम्बिका आदि श्रेणी के गेय पद प्राप्त होते है। सिद्धों का गेय पद साहित्य प्रभूत मात्रा में है। हिन्दी में गेय पदों की परम्परा शुरू से ही रही है। कबीर, सूर, तुलसी, दादू, मीरां आदि के गेय पद प्राप्त होते हैं।

अपभ्रंश की यह 'बंधत्रयी' आधुनिक भाषाओं के साहित्य में हिन्दी के अलावा अन्यत्र दिखाई नहीं देती। काव्य-रचना की ये शैलियाँ, जिन्हें अपनाकर हिन्दी ने अपभ्रंश से अपना साहित्यिक उत्तराधिकार प्राप्त किया है, अन्य आधुनिक भाषाओं में नहीं हैं। अतएव अपभ्रंश के साहित्य पर हिन्दी वाले अपना अधिकार प्रकट करते हैं तो कुछ भी गलत नहीं करते।

२. अन्य छन्द—'प्राकृत पैंगलम्' पुस्तक से यह पता चलता है कि उपर्युक्त छंदों के अलावा और भी कई प्रकार के छंदों का प्रचलन अपभ्रंश में धड़ल्ले से होता था। छप्पय, कुण्डलिया, रोला, उल्लाला आदि छन्द उन दिनों अत्यधिक लोकप्रिय थे। इन सब छंदों की परम्परा हिन्दी में जीवित ही नहीं, शक्तिशाली दिखाई पड़ती है। इसलिए अपभ्रंश के साहित्य की गणना हिन्दी में की जानी चाहिए। राहुलजी के अनुसार यदि ऐसा नहीं किया तो हमारी बहुत हानि होगी। उन्हीं के शब्दों में, "नए-नए छंदों की सृष्टि करना तो इनका (अपभ्रंश के कवियों का) अद्‌भुत कृतित्व है। दोहा, सोरठा, चौपाई, छप्पय आदि कई सौ ऐसे नए छन्दों की सृष्टि उन्होंने की है जिन्हें हिन्दी कवियों ने बराबर अपनाया है, यद्यपि सबको नहीं। हमारे विद्यापति, सूर, जायसी और तुलसी के ये ही उज्जीवक और प्रथम प्रेरक रहे हैं। उन्हें छोड़ देने से बीच के काल में हमारी बहुत हानि हुई है और आज भी उसकी सम्भावना है।"[१]

३. कथानक-रूढ़ियों का प्रयोग—भारतीय साहित्य में हमेशा से ही ऐतिहासिक चरितकाव्यों में संभावनाओं पर जोर दिया जाता रहा है। संभावनाओं पर जोर देने के कारण बहुत-सी कथानक-रूढ़ियाँ इस देश में चल पड़ी हैं। यद्यपि इनका प्रयोग ऐतिहासिक काव्यों में शुरू से ही होता आया है पर अपभ्रंश के चरितकाव्यों में इस प्रवृत्ति का विशेष विकास हुआ है। हम देखते हैं कि हिन्दी में अपभ्रंश की इस प्रवृत्ति को यथावत् रूप में स्वीकार कर लिया गया है। पृथ्वी-

१. राहुल सांकृत्यायन—हिन्दी काव्यधारा, पृ० १३

राजरासो, पद्मावत आदि इसके श्रेष्ठ उदाहरण हैं ।

इस प्रकार अपभ्रंश साहित्य की कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जिनका परम्परागत रूप में निर्वाह केवल हिन्दी साहित्य में हुआ है । अन्य आधुनिक भाषाओं के साहित्य में इन विशेषताओं के दर्शन नहीं होते हैं । "इस प्रकार हिन्दी साहित्य में (अपभ्रंश की) प्राय: पूरी परम्पराएँ ज्यों की त्यों सुरक्षित हैं । शायद ही किसी प्रान्तीय भाषा में ये सारी की सारी विशेषताएँ इतनी मात्रा में और इस रूप में सुरक्षित हों । यह सब देखकर यदि हिन्दी को अपभ्रंश साहित्य से अभिन्न समझा जाता है तो इसे बहुत अनुचित नहीं कहा जा सकता । × × × प्रकृत यही है कि इन साम्यों को देखकर यदि हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखकों ने अपभ्रंश साहित्य को हिन्दी साहित्य का ही मूल रूप समझा तो ठीक ही किया ।"[1] अपभ्रंश साहित्य की समस्त परम्पराओं, काव्यरूपों को अन्य भाषाओं की अपेक्षा अधिक विस्तार से हिन्दी ने ही ग्रहण किया है अत: हिन्दी साहित्य में उसे स्थान देना अनुचित नहीं है ।

---

१. आ० हजारीप्रसाद द्विवेदी—हिन्दी साहित्य, पृ० १५-१६

२

काल-विभाजन

साहित्य के इतिहास के काल-विभाजन की आवश्यकता

किसी भी देश के साहित्य का इतिहास वहाँ की जनता की बदलती हुई विचारधाराओं का इतिहास हुआ करता है। जन-जीवन सदैव गतिशील रहता है और सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक विचारधाराओं से परिचालित होने के कारण सदैव नूतनता को प्राप्त करता रहता है। यद्यपि जनता में प्राचीन के प्रति पर्याप्त मात्रा में मोह होता है तथापि युगीन परिस्थितियों के साथ भी उसे सामंजस्य स्थापित करना पड़ता है। अतः परिस्थितियों के बदलने के साथ जनता के आचार-विचार में भी परिवर्तन आ जाता है। इस परिवर्तन के कारण पूर्व प्रचलित मान्यताएँ भी परिवर्तित हो जाती हैं। साहित्य को समाज का दर्पण कहा गया है क्योंकि जो कुछ समाज में हो रहा होता है उसी का प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष स्वरूप साहित्य में भी दिखाई पड़ता है। साहित्यकार समाज में रहता है और समाज का एक अंग होता है फलत. वह समाज में हो रही गतिविधियों से असम्पृक्त नहीं रह सकता। इसलिए ज्यों-ज्यों सामाजिक आचार-विचार परिवर्तित होते रहते हैं उसमें रहने वाले साहित्यकार की मनोवृत्ति में भी अन्तर आ जाता है और इसके परिणामस्वरूप साहित्य में भी परिवर्तन आ जाता है। एक निश्चित समय में प्रचलित प्रवृत्ति के परिवर्तित हो जाने से फिर परवर्ती समय के साहित्य में वह प्रवृत्ति प्रधान रूप में नहीं दिखाई देती फलतः नवीन साहित्य अपने पूर्ववर्ती साहित्य से सम्बन्धित होते हुए भी उससे अलग होता है इसलिए साहित्य की इस सतत प्रवहमान धारा में सदैव परिवर्तन होते रहते हैं। सुविधा के लिए अतः साहित्य को निश्चित कालखण्डों में बाँट लिया करते हैं। इस विभाजन को ही काल-विभाजन कहते हैं। अतः साहित्य का काल-विभाजन एक प्रकार से अलग-अलग समयों में प्रचलित साहित्य-प्रवृत्तियों का एक आलेख होता है।

"इतिहास में हम मुख्यतः देश (Space) के स्थान पर काल (Time) का अध्ययन करते हैं, अतः अध्ययन की सुव्यवस्था के लिए उसे विभिन्न काल-खण्डों

में बाँट लेना सुविधाजनक एवं उपयोगी सिद्ध होता है।"[1] इस प्रकार साहित्य के इतिहास को अलग-अलग कालों में विभाजित करने का कारण अध्ययन की सुविधा है। साहित्य के इतिहास को समग्र रूप में एक साथ देखना संभव भी नहीं है। ऐसा करने से साहित्य के क्रमिक विकास की मुख्य अवस्थाओं से तो वंचित होना ही पड़ता है, साथ ही विविध कालखण्डों की युग-चेतना, जो उस काल की एक समुचित पृष्ठभूमि होती है, से भी साहित्य का सामंजस्य स्थापित नहीं किया जा सकता। साहित्य के इतिहास को विविध कालखण्डों में विभाजित करने का कारण साहित्य की अंतर्निहित चेतना को जानना भी है। डॉ० गुप्त के शब्दों में "साहित्य अंतर्निहित चेतना के क्रमिक विकास, उसकी परम्पराओं के उत्थान-पतन एवं उसकी विभिन्न प्रवृत्तियों के दिशा-परिवर्तन आदि के काल-क्रम को स्पष्ट करना ही काल-विभाजन का लक्ष्य होता है अन्यथा उसकी कोई उपयोगिता नहीं है।"[2]

कुल मिलाकर साहित्य के इतिहास को विविध कालों में विभाजित करने के तीन कारण हो सकते हैं :

१. अध्ययन की सुविधा के लिए,
२. साहित्य की अन्तर्निहित चेतना के क्रमिक विकास की जानकारी के लिए,
३. विविध प्रवृत्तियों के दिशा-परिवर्तन की जानकारी के लिए।

क्या काल-विभाजन अनिवार्य है ?

काल-विभाग से सम्बन्धित एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि क्या साहित्य के इतिहास को विविध कालों में विभाजित करना जरूरी है ? साहित्य एक सतत् प्रवहमान धारा है, इसको विविध खण्डों में विभाजित कर देने से क्या उसके नैरन्तर्य में बाधा उपस्थित नहीं होगी ? जिस प्रकार जल की प्रवहमान धारा को खण्डों में बाँट देने से उसका प्रवाहशील स्वरूप समाप्त हो जाता है उसी प्रकार साहित्य को विविध कालों में विभाजित कर देने पर क्या उसका वास्तविक सौंदर्य बच रहता है ? इसे दूसरे शब्दों में यों भी कह सकते हैं कि यदि साहित्य के क्रमिक विकास को उसके विकासक्रम में ही स्वीकार करते हुए अध्ययन किया जाय तो क्या बुराई है ? दूसरी ओर प्रवृत्तियों के आधार पर विभाजित करने में एक बुराई भी है। वह यह कि काल विशेष में जो प्रवृत्ति प्रधान होती है उसी पर सारा ध्यान केन्द्रित हो जाता है, उस काल में प्रचलित अन्य प्रवृत्तियाँ

---

१. डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त—हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास, पृ० १११
२. वही, पृ० १११

गौण हो जाती हैं, या उन पर बिलकुल ध्यान नहीं जाता। किसी कालखण्ड को पहले से ही वीरगाथाकाल, भक्तिकाल या रीतिकाल मान लेने का दुष्परिणाम यह भी हुआ कि प्रत्येक कालखण्ड की ऐसी काव्य-परम्पराओं को जो इस नाम के प्रतिकूल पड़ती थीं, इतिहास में स्थान नहीं दिया जा सका।"[१] हिन्दी साहित्य के उत्तर मध्यकाल को रीतिकाल कहा गया है। किन्तु इस नाम से इस युग की वे रचनाएँ दब जाती हैं जो वीररस से या भक्ति से सम्बन्धित हैं। यदि हम समस्त इतिहास को ऐतिहासिक विकासक्रम की दृष्टि से देखते है तो साहित्य की समूची धाराएँ अपने समस्त गौरव में प्रस्तुत होती हैं।

लेकिन साहित्य की अजस्रधारा को एक साथ देख पाने में कुछ कठिनाइयाँ है। एक तो आदि से अन्त तक साहित्य के समस्त फैलाव को एक दृष्टि में बाँध पाना कठिन है। दूसरे, एक ही प्रवृत्ति की रचनाओं में अलग-अलग परिस्थितियों के कारण जो परिवर्तन आ जाता है उसे स्पष्ट करने में कठिनाई उपस्थित होगी। इसे उदाहरण से प्रस्तुत करना ठीक रहेगा। हिन्दी साहित्य में रामकथा को लेकर आदिकाल से लेकर आधुनिक काल तक काव्य लिखे गये हैं। अब आदि-कालीन जैन साहित्य में रामकथा का जो रूप है वह भक्तिकाल में नहीं मिलता। भक्तिकालीन भक्तिभावना और आदर्शप्रियता रीतिकाल में नहीं मिलती बल्कि यहाँ आकर रामकथा में शृंगारिकता का समावेश हो गया है। आधुनिक काल में 'साकेत' में और उसके बाद 'राम की शक्तिपूजा' में या 'वैदेही वनवास' में यही रामकथा सर्वथा नवीन रंगों में प्रस्तुत हुई है। अब यदि हम आदिकाल की जैनों की रामकथा से लेकर आधुनिक काल की रामकथा को एक साथ देखते हैं तो हम उलझन में पड़ जायेंगे। एक कृति का सामंजस्य दूसरी कृति से बिठाने के पूर्व हमें प्रत्येक कृति की पृष्ठभूमि प्रकट करनी पड़ेगी, इस प्रकार यह इति-हास न होकर प्रत्येक कृति की पृष्ठभूमि का विवरण मात्र हो जायेगा। अतः मेरी सम्मति में साहित्य के इतिहास को विविध कालों में विभाजित कर प्रस्तुत करने से हम साहित्य की अन्तर्निहित चेतना को पकड़ने में समर्थ हो सकेंगे। शुक्लजी के शब्दों में "शिक्षित जनता की जिन-जिन प्रवृत्तियों के अनुसार हमारे साहित्य के स्वरूप में भी जो परिवर्तन होते आए हैं, जिन-जिन प्रभावों की प्रेरणा से काव्यधारा की भिन्न-भिन्न शाखाएँ फूटती रही हैं, उन सबके सम्यक् निरूपण तथा उनकी दृष्टि से किए हुए सुसंगत काल-विभाग के बिना साहित्य के इतिहास का सच्चा अध्ययन कठिन दिखाई पड़ता है।"[२]

---

१. डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त—हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास, पृ० ७
२. आ० रामचन्द्र शुक्ल—हिन्दी साहित्य का इतिहास, प्रथम संस्करण का वक्तव्य, पृ० १

काल-विभाजन के मुख्य आधार

साहित्य के इतिहासकारों ने इतिहास को विविध कालों में विभाजित करते समय अपने-अपने विचार प्रस्तुत किए हैं, जिनको दृष्टि में रखकर उन्होंने काल-विभाजन किया है। उन्हीं विचारों के आधार पर हम काल-विभाजन के मुख्य आधारों को खोजने की चेष्टा करेंगे—

१. शुक्लजी के अनुसार जनता की बदलती हुई चित्तवृत्तियाँ ही काल-विभाजन का उचित आधार हो सकती हैं।" इस दृष्टि से हिन्दी साहित्य का विवेचन करने में यह बात ध्यान में रखनी पड़ेगी कि किसी विशेष समय में लोगों की रुचि-विशेष का संचार और पोषण किधर से और किस प्रकार हुआ।"[१]

२. डॉ० रामबहोरी शुक्ल के अनुसार भिन्न-भिन्न कालों का आधार प्रवृत्तियों की प्रमुखता है। "समूचे साहित्य के भिन्न-भिन्न कालों में अलग-अलग प्रवृत्तियाँ देखी जाती हैं।"[२]

३. डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त काल-विभाजन का लक्ष्य परिस्थितियों के संदर्भ में साहित्यिक घटनाओं और प्रवृत्तियों के विकास-क्रम को मानते हैं। "काल-विभाजन का लक्ष्य अंततः इतिहास की विभिन्न परिस्थितियों के संदर्भ में उसकी घटनाओं और प्रवृत्तियों के विकास-क्रम को स्पष्ट करना होता है।"[३] आपके अनुसार इस लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए निम्न दो आधारों पर काल-विभाजन किया जाना चाहिए।[४]

(१) विशुद्ध साहित्यिक प्रवृत्तियों के आधार पर प्रस्तुत काल-विभाग
(२) काल-विभाग समाज की विभिन्न परिस्थितियों के आधार पर (विशेषतः राष्ट्रीय परिस्थितियों पर) किया जाना चाहिए।

४. प्रो० नलिनविलोचन शर्मा के अनुसार काल-विभाजन विशुद्ध साहित्यिक मानदण्डों के आधार पर किया जाना चाहिए। "यदि हम यह मानते हैं कि मनुष्य के राजनैतिक, सामाजिक, बौद्धिक या भाषा-वैज्ञानिक विकास से संयुक्त रहते हुए साहित्य का स्वतंत्र विकास होता है, और दूसरा पहले का निष्क्रिय प्रतिबिम्ब नहीं है तो हम अनिवार्यतः इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि साहित्यिक युग विशुद्ध साहित्यिक मानदण्ड के सहारे निर्धारित होने चाहिए।"[५]

५. डॉ० रामकुमार वर्मा राजनैतिक परिवर्तन को प्राधानिकता देते हुए कहते

---

१. आ० रामचन्द्र शुक्ल—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ३
२. डॉ० रामबहोरी शुक्ल—हिन्दी साहित्य का उद्भव और विकास, पृ० ५१
३. डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त—हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास, पृ० १११
४. वही, पृ० ११८
५. प्रो० नलिनविलोचन शर्मा—हिन्दी साहित्य का इतिहास-दर्शन, पृ० ५७

है—"इस प्रकार हम राजनैतिक पट-परिवर्तन के साथ साहित्य को (निम्नलिखित पाँच भागों में) विभाजित करते हैं।"[1]

६. 'हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास' में युग की मुख्य सामाजिक-साहित्यिक प्रवृत्तियों के आधार पर इतिहास का काल-विभाजन किया गया है। "हिन्दी साहित्य के विभिन्न कालों का विभाजन युग की मुख्य सामाजिक तथा साहित्यिक प्रवृत्तियों के आधार पर किया गया है।"[2]

उपर्युक्त मान्यताएँ निम्नलिखित बातों को काल-विभाजन का आधार सिद्ध करती हैं :

१. विशेष समय में लोगों की रुचि विशेष का पोषण और संचार कैसे होता है ?
२. अलग-अलग कालों की साहित्यिक प्रवृत्तियाँ क्या हैं ?
३. काल-विशेष की सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक प्रवृत्तियों का इतिहास के संदर्भ में विकास किस प्रकार हुआ है ?
४. काल-विशेष के विशुद्ध साहित्यिक मानदण्ड क्या हैं ?

काल-विभाजन के आधारों की जानकारी के बाद अब काल-विभाजन का इतिहास प्रस्तुत किया जाता है।

हिन्दी साहित्य के काल-विभाजन का इतिहास

गार्सां द तासी और शिवसिंह सरोज ने हिन्दी साहित्य के प्रारम्भिक इतिहास लिखे। इन्होंने कवि संग्रह के रूप में ग्रन्थ लिखे हैं, ऐतिहासिक विवेचना इनमें नहीं की गई है। डॉ० ग्रियर्सन ने पहली बार ऐसा प्रयास किया है। "ग्रन्थ अध्यायों में विभक्त है। प्रत्येक अध्याय सामान्यतया एक काल का सूचक है। भारतीय भाषा-काव्य के स्वर्णयुग १६वीं एवं १७वीं शती पर मलिक मुहम्मद की प्रेम कविता से प्रारम्भ करके, ब्रज के कृष्णभक्त कवियों, तुलसीदास के ग्रन्थों और केशवदास द्वारा स्थापित कवियों के रीति-सम्प्रदाय को सम्मिलित करके कुल छः अध्याय हैं जो पूर्णतया समय की दृष्टि से विभक्त नहीं हैं बल्कि कवियों के विशेष वर्गों की दृष्टि से बंटे हैं।'[3] इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि लेखक स्वयं अपने विभाजन से संतुष्ट नहीं है अन्यथा वह ऐसी बात नहीं लिखता। ग्रियर्सन के ११ अध्याय जिनमें से प्रत्येक को उसने एक अलग काल माना है, इस प्रकार हैं—

(१) चारणकाल (७००-१३०० ई०)

---

१. डा० रामकुमार वर्मा— हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० ४१
२. हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास, प्रथम भाग, पृ० २
३. हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास—डा० किशोरीलाल गुप्त, पृ० ४८

(२) पन्द्रहवीं शताब्दी का धार्मिक पुनर्जागरण
(३) जायसी की प्रेम कविता
(४) व्रज का कृष्ण-सम्प्रदाय (१५००-१६०० ई०)
(५) मुगल दरबार
(६) तुलसीदास
(७) रीतिकाव्य
(८) तुलसीदास के अन्य परवर्ती (१६००-१७०० ई०)
(९) अठारहवीं शताब्दी
(१०) कम्पनी के शासन में हिन्दुस्तान
(११) महारानी विक्टोरिया के शासन में हिन्दुस्तान

इन ग्यारह अध्यायों में ग्रियर्सन का ग्रंथ विभक्त है—वस्तुतः ये सभी अध्यायों के शीर्षक अधिक जान पड़ते हैं, अलग-अलग कालों के शीर्षक नहीं। इस विभाजन के निम्नलिखित दोष हैं :

(क) समूची १४वीं शताब्दी के साहित्य को छोड़ दिया गया है।
(ख) कालों के नामकरण का आधार स्पष्ट नहीं है।
(ग) लगभग एक ही समय के कवियों को अलग-अलग काल के रूप में प्रस्तुत किया गया है।
(घ) काल-विभाजन में वैज्ञानिक विवेचन का अभाव है।

मिश्रबन्धुओं का मत—ग्रियर्सन के बाद मिश्रबन्धुओं ने अपने 'मिश्र-बन्धु विनोद' में हिन्दी साहित्य का काल-विभाग पहली बार व्यवस्थित ढंग से प्रस्तुत किया है। इन्होंने अपने इतिहास को पाँच कालों में विभाजित किया है :

१. प्रारम्भिक काल
२. माध्यमिक काल
३. अलंकृत काल
४. परिवर्तन काल
५. वर्तमान काल

इनके काल-विभाजन का सबसे बड़ा दोष यह है कि इन्होंने इस विभाजन का कोई आधार नहीं दिया। इतने काल क्यों माने गए, इनके शीर्षक ये ही क्यों दिए गए—इन बातों पर इन्होंने कोई विवेचना नहीं की है, इसलिए मिश्रबंधुओं का इतिहास भी कुल मिलाकर कविवृत्त-संग्रह ही बन सका, इससे आगे नहीं बढ़ सका। शुक्लजी के अनुसार "सारे रचनाकाल को केवल आदि, मध्य, पूर्व, उत्तर इत्यादि खण्डों में आँख मूँदकर बाँट देना—यह भी न देखना कि किस खंड

के भीतर क्या आता है, क्या नहीं—किसी वृत्त-संग्रह को इतिहास नहीं बना सकता।"[१]

राहुल सांकृत्यायन का मत—राहुल सांकृत्यायन ने हिन्दी साहित्य को पाँच कालों में विभाजित किया है :[२]

१. सिद्ध-सामंत-युग
२. सूफी-युग
३. भक्ति-युग
४. दरबारी-युग
५. नवजागरण-युग

किन्तु राहुल जी ने इस विभाजन के सम्बन्ध में विशेष कुछ भी नहीं कहा है। इनमें से सिद्ध-सामन्त युग को छोड़कर, जिसका समय इन्होंने ७६०-१३०० ई० दिया है,[3] किसी अन्य का समय तक इन्होंने नहीं दिया है। इसलिए राहुल जी का यह काल-विभाजन भी स्वीकार्य नहीं किया जा सकता।

शुक्लजी का मत—हिन्दी साहित्य का एक वैज्ञानिक, सुविचारित काल-विभाजन सर्वप्रथम शुक्लजी ने प्रस्तुत किया। 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में इन्होंने हिन्दी साहित्य को चार कालों में विभाजित किया है[४]—

१. आदिकाल (वीरगाथा काल, संवत् १०५०—१३७५)
२. पूर्व मध्यकाल (भक्तिकाल, सं० १३७५—१७००)
३. उत्तर मध्यकाल (रीतिकाल, सं० १७००—१६००)
४. आधुनिक काल (गद्यकाल, सं० १६००—१६८४)

शुक्लजी ने जनता की चित्तवृत्ति के संचित प्रतिबिंब को साहित्य मानते हुए जनता की चित्रवृत्तियों के बदलने के साथ ही साहित्य का परिवर्तन स्वीकार किया है। इस प्रकार वे उन प्रवृत्तियों के साथ साहित्य-परम्परा के सामंजस्य को साहित्य का इतिहास कहते हैं। इसलिए "इस दृष्टि से हिन्दी साहित्य का विवेचन करने में यह बात ध्यान में रखनी होगी कि किसी विशेष समय में लोगों में रुचिविशेष का संचार किधर से और किस प्रकार हुआ।"[५] इस आधार पर शुक्ल जी ने हिन्दी साहित्य में ६०० वर्षों के इतिहास को उपर्युक्त चार कालों में विभाजित किया है। शुक्लजी ने इस प्रकार, पहली बार ठोस आधार पर

---

१. प्रा० रामचन्द्र शुक्ल—हिन्दी साहित्य का इतिहास, प्रथम संस्करण का वक्तव्य, पृ० १-२
२. राहुल सांकृत्यायन—हिन्दी काव्यधारा, पृ० ५०
३. वही, पृ० ३
४. प्रा० रामचन्द्र शुक्ल—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ३
५. वही, पृ० ३

साहित्य का काल-विभाजन प्रस्तुत किया है। और आज तक किंचित् हेर-फेर के बाद शुक्लजी द्वारा प्रस्तुत काल-विभाजन ही स्वीकार्य हुआ है। जो कुछ भी संशोधन हुए वे शुक्लजी के मत को ध्यान में रखकर ही हुए, सर्वथा मौलिक विचार प्रकट नहीं किये गए। हाँ, शुक्लजी के बाद कुछ लोगों ने अपने ढंग से हिन्दी साहित्य का काल-विभाजन प्रस्तुत किया है, जो यद्यपि शुक्लजी के मत की समता में मान्य नहीं हुए, फिर भी जिनका अपना विशिष्ट महत्त्व है। इस दृष्टि से डॉ० रामकुमार वर्मा और डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त के विचार जानना जरूरी है।

डॉ० रामकुमार वर्मा का मत :[1]

१. सन्धिकाल—सं० ७५०-१०००
२. चारणकाल—सं० १०००-१३७५
३. भक्तिकाल—सं०—१३७५-१७००
४. रीतिकाल—सं० १७००-१९००
५. आधुनिककाल—सं० १९००-अब तक

डॉ० वर्मा इस विभाजन का आधार राजनैतिक पट-परिवर्तन मानते हैं—"इस प्रकार हम राजनैतिक पट-परिवर्तन के साथ साहित्य को निम्नलिखित पांच भागों में विभाजित करते हैं।"[2] स्पष्ट है वर्माजी साहित्य की अपेक्षा राजनैतिक घटनाओं को अधिक महत्त्व देते हैं। तभी तो शुक्लजी से पृथक् यह विभाजन प्रस्तुत करते हैं। शुक्लजी के विभाजन से वर्माजी के विभाजन में दो बातों में अंतर है—

१. वर्मा हिन्दी साहित्य की शुरुआत संवत् १००० के स्थान पर संवत् ७५० से स्वीकार करते हैं।

२. वर्माजी इस पहले काल को सन्धिकाल कहते हैं और शुक्लजी के वीरगाथाकाल को चारणकाल कहते हैं। शेष बात शुक्लजी के मत से साम्य रखती हैं।

सं० ७५० वि० से हिन्दी की शुरुआत क्यों मानी जाय इसके लिए डॉ० वर्मा यह कहते हैं कि इस समय से अपभ्रंश ने हिन्दी में परिवर्तित होना प्रारम्भ कर दिया था इसलिए इसी समय से हिन्दी की शुरुआत माननी चाहिए। और इस समय के साहित्य की भाषा अपभ्रंश की गौरवशालिनी कृतियों के बीच भाषा की वही सरलता दृष्टिगोचर होने लगी थी जो जनता की स्वाभाविक मनोवृत्ति से प्रेरित होकर अपने को साहित्यिक विधानों से मुक्त करती है।[3] इस प्रकार दो भाषाओं की सन्धि का साहित्य होने के कारण यह काल सन्धिकाल है। आगे हम

---

१. डॉ० रामकुमार वर्मा—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० ४१-४३
२. वही, पृ० ४१
३. वही, पृ० ६७

अपभ्रंश के विवेचन के अंतर्गत देख चुके हैं कि परिनिष्ठित अपभ्रंश के बाद एडवांस्ड (अग्रसरीभूत अपभ्रंश) का समय दसवीं शताब्दी से है, न कि सातवीं शताब्दी से।[1] सन्धिकालीन भाषा का रूप भी उसी समय से शुरू होता है और उससे पूर्व इस भाषा का व्यवहार नहीं था बल्कि परिनिष्ठित अपभ्रंश व्यवहृत हो रही थी। और परिनिष्ठित अपभ्रंश के साहित्य को चूंकि हम हिन्दी साहित्य में स्थान नहीं दे सकते अतः सन्धिकाल का अस्तित्व भी समाप्त हो जाता है। यदि सन्धिकाल कोई है तो वह दसवीं शताब्दी के बाद से है, उससे पहले से नहीं। दूसरे, डॉ० वर्मा ने शुक्लजी के वीरगाथाकाल को चारणकाल कहा है, यह दरअसल एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। चारणों ने भी वीररसात्मक साहित्य ही लिखा है, जिसे स्वयं वर्माजी भी मानते हैं, इस प्रकार चारणकाल कहने से वीरगाथाकाल नाम में कोई फर्क नहीं आता। सारांश यह है कि डॉ० वर्मा ने जो काल-विभाजन प्रस्तुत किया है वह किसी भी मात्रा में शुक्लजी के मत से अलग दिखाई नहीं देता। इसीलिए आगे चलकर यह मत स्वीकार्य नहीं हुआ।

डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त का मत : डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास' में सर्वथा नवीन ढंग से काल-विभाजन प्रस्तुत किया है। गुप्तजी सांस्कृतिक परम्पराओं एवं बाह्य परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में हिन्दी साहित्य को देखना पसंद करते हैं—"वस्तुतः हमारा लक्ष्य सांस्कृतिक परम्पराओं एवं बाह्य परिस्थितियों के प्रकाश में साहित्य की प्रवृत्तियों का अनुशीलन करना है, अतः काल-विभाजन में भी इसी तथ्य को ध्यान में रखना उचित होगा।"[2] दूसरी बात जिस पर गुप्तजी ने अधिक बल दिया है, यह है कि 'हिन्दी साहित्य का क्षेत्र इतना विस्तृत है कि उसमें एक ही युग में अनेक प्रवृत्तियाँ चलती हुई दृष्टिगोचर होती हैं।' इसलिए इनके अनुसार साहित्य का इतिहास लिखते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि हिन्दी साहित्य के विभिन्न केन्द्रों के आश्रय में एक ही साथ विभिन्न प्रवृत्तियाँ पनप रही थीं। इन मान्यताओं के साथ डॉ० गुप्त हिन्दी साहित्य का नवीन, वैज्ञानिक काल-विभाजन इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं, क्योंकि पूर्ववर्ती लेखकों द्वारा प्रस्तुत किये गए काल-विभाजनों से "संभव है अध्यापकों एवं विद्यार्थियों को सुविधा रही हो किन्तु वैज्ञानिक दृष्टि से यह प्रयास एकांगिता और अधूरेपन का सूचक है।"[3] गुप्तजी का काल-विभाजन इस प्रकार है :

---

१. विशेष जानकारी के लिए पुस्तक के पिछले पृष्ठों पर परिनिष्ठित और अग्रसरीभूत अपभ्रंश विषयक सामग्री देखिये

२. डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त—हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास, पृ० ११८

३. वहीं, पृ० ১

१. ११८४-१३५० ई०—प्रारम्भिक काल या उन्मेषकाल

२. १३५०-१८५७ ई०—मध्यकाल या विकास-काल

(क) १३५०-१५०० ई० पूर्व मध्यकाल या उत्कर्षकाल

(ख) १५००-१६०० ई० मध्यकाल या चरमोत्कर्षकाल

(ग) १६००-१८५७ ई० उत्तर मध्यकाल या अपकर्षकाल

३. प्रारम्भिक काल (११८४-१३५० ई०) में केवल दो काव्य-परम्पराओं का प्रवर्तन होता है—

क. धार्मिक रासकाव्य-परम्परा (जैन कवियों के रास संज्ञक काव्य)

ख. संतकाव्य परम्परा (संत कवियों का काव्य)

४. मध्यकाल (१३५०-१८५७ ई०) में क्रमशः निम्न परम्पराएँ विकसित हुईं :

क. संत-काव्य-परम्परा ख. पौराणिक गीति-परम्परा ग. पौराणिक प्रबन्ध-काव्य-परम्परा घ. रसिकभक्ति काव्य-परम्परा	धर्माश्रय में
क. मैथिली गीति-परम्परा ख. ऐतिहासिक रासकाव्य-परम्परा ग. ऐतिहासिक चरितकाव्य-परम्परा घ. ऐतिहासिक मुक्तक-परम्परा ङ. शास्त्रीय मुक्तक-परम्परा	राज्याश्रय में
क. रोमांसिक कथाकाव्य-परम्परा ख. स्वच्छंद प्रेमकाव्य-परम्परा	लोकाश्रय में

इस प्रकार मध्यकाल में कुल ११ काव्य-परम्पराएँ विकसित होकर साथ-साथ प्रवाहित हुई हैं।

५. आधुनिक काल (१८५७-१९६५ ई०)—इसे परम्परागत दृष्टिकोण के अनुसार निम्नांकित युग-भेदों में विभक्त किया जा सकता है :

क. भारतेन्दु-युग (१८५७-१९०० ई०)

ख. द्विवेदी-युग (१९००-१९२० ई०)

ग. छायावाद-युग (१९२०-१९३७ ई०)

घ. प्रगतिवाद-युग (१९३७-१९४५ ई०)

ङ. प्रयोग-युग (१९४५-१९६५ ई०)

गुप्तजी द्वारा प्रस्तुत हिन्दी साहित्य का संशोधित काल-विभाजन
(११८४-१९६५ ई०)[1]

११८४-१३५० ई०	१३५०-१८५७ ई०			१८५७-१९६५ ई०
प्रारंभिक काल	मध्यकाल			आधुनिक काल
	पूर्व-मध्य	मध्य-मध्य	उत्तर-मध्य	
	—१५००	—१६००	—१८५७	

गुप्तजी के मत की समीक्षा : इतने लम्बे काल-विभाजन को देखकर किसी को भी जूड़ी आ जाना स्वाभाविक है। हमने काल-विभाजन के कारण की विवेचना करते हुए पहले ही यह बतला दिया था कि साहित्य का काल-विभाजन वस्तुतः अध्ययन की सुविधा के लिए किया जाता है, मौलिकता दिखलाने के लिए नहीं। आ० रामचन्द्र शुक्ल का काल-विभाजन विद्वानों को सिर्फ इसलिए ग्राह्य हुआ कि वह संक्षिप्त और सीधा-सादा है। उसे समझने और याद रखने में कठिनाई नहीं होती। लेकिन गुप्तजी का यह काल-विभाजन इतना लम्बा-चौड़ा और गुम्फित है कि पहले तो इसे समझना बहुत कठिन है। फिर याद रखना तो असंभव-सी ही बात है। वैसे भी गुप्तजी जब अध्यापकों और विद्यार्थियों की सुविधा का ध्यान नहीं रखते, तो यह विभाजन भला कौन देखेगा। एक सामान्य आदमी को हिन्दी साहित्य के काल-विभाजन से क्या प्रयोजन? काल-विभाजन वस्तुतः उन्हीं के लिए होता है जो साहित्य के इतिहास को अत्यंत सूक्ष्मता और गहराई से देखते हैं। मैं समझता हूँ ऐसा करने वाले अध्यापक और विद्यार्थी ही होते हैं, साधारण पाठक नहीं। अतः वही काल-विभाजन सर्वश्रेष्ठ है जो अध्यापकों-विद्यार्थियों को सुविधाजनक लगे, यदि ऐसा नहीं है तो उस काल-विभाजन का कोई लाभ नहीं है।

अब गुप्तजी के काल-विभाजन की वैज्ञानिकता को भी देखें। मध्यकाल इनकी दृष्टि में तीन आश्रयों में (धर्म, राज्य, लोक) रचित और विकसित हुआ है। इसलिए उस साहित्य में रुचि और प्रवृत्तियों का भेद मिलता है। "मध्यकाल की इन एकादश काव्य-परम्पराओं को मैंने तीन प्रकार के आश्रय-केन्द्रों में विभक्त किया है—धर्माश्रय, राज्याश्रय एवं लोकाश्रय। मध्यकाल का हिन्दी साहित्य इन्हीं तीन प्रकार के आश्रय-केन्द्रों में रचित एवं विकसित होने के कारण ही उनमें

१. डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त—हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास, पृ० १२३

रुचि एवं प्रवृत्तियों का भेद मिलता है।"[1] मैं समझता हूँ डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने गुप्तजी से बहुत पहले इन आश्रयों की चर्चा की है, इससे गुप्तजी का यह कथन कि 'मैंने तीन प्रकार के आश्रय-केन्द्रों में विभक्त किया है' गलत सिद्ध हो जाता है। गुप्तजी से पूर्व भी इसकी चर्चा हो चुकी है। इस सम्बन्ध में एक बात और ध्यान देने योग्य है। द्विवेदीजी ने आदिकाल में मूल हिन्दी प्रदेश में साहित्य न मिलने के कारणों की चर्चा करते हुए प्राचीन साहित्य के संरक्षण के तीन कारण बतलाए हैं—"इस प्रकार पुराने साहित्य का संरक्षण तीन प्रकार से हुआ—१. राजकीय संरक्षण से, २. संगठित धर्म सम्प्रदाय के प्रयत्न से, ३. लोक परम्परा से।"[2] अर्थात् द्विवेदीजी साहित्य के संरक्षण के तीन कारण मानते हैं, न कि उसके रचित एवं विकसित होने के। द्विवेदीजी का सीधा-सा मतलब यह है कि पुराना साहित्य, जो किन्हीं उपायों से लिखा जा चुका था, उपर्युक्त तीन आधारों का अवलम्ब ग्रहण कर सुरक्षित रह सका। या तो राजाओं ने उसे पसन्द कर अपने पास रखा, या धार्मिक सम्प्रदायों ने उसे अपने लिए उपयोगी समझ उसे सुरक्षित रखा (जैसा जैन-धर्म में दिखाई पड़ता है) या फिर जनता ने ही अपनी रुचि के साहित्य को स्वेच्छा से या शौकिया तौर पर संरक्षण दिया। लेकिन डॉ० गुप्त साहित्य की सुरक्षा की बात न कहकर रचित और विकसित होने की बात कहते हैं। अर्थात् उनकी दृष्टि में राजाओं ने, धार्मिक केन्द्रों ने और जनता ने साहित्य-सर्जना की प्रेरणा दी जिसके परिणामस्वरूप ऐसा साहित्य लिखा गया। ध्यान से देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि लिखे गए साहित्य की सुरक्षा करना और बात है और नवीन साहित्य की प्रेरणा देना और बात है। राज्याश्रय में साहित्य के रचे जाने की बात तो समझ में आती है पर धर्म या लोकाश्रय में साहित्य के लिखे जाने की बात गले नहीं उतरती। हिन्दी साहित्य के इतिहास में ऐसा उदाहरण कहीं दिखाई नहीं देता जहाँ धार्मिक केन्द्रों ने या जनता ने आगे आकर साहित्य-सृजन को प्रोत्साहन दिया हो। इस प्रकार गुप्तजी का यह कथन कि "इन्हीं तीन प्रकार के आश्रय-केन्द्रों में रचित एवं विकसित होने के कारण ही उनमें रुचि एवं प्रवृत्तियों का भेद मिलता है" सर्वथा असत्य और अस्वीकार्य है। गुप्तजी द्वारा दिये गए साहित्य-सृजन के इन आधारों को स्वीकार न करने पर उनके द्वारा प्रस्तुत काल-विभाजन भी स्वीकार नहीं किया जा सकता। वैसे गुप्तजी इस विभाजन को द्वितीय तालिका में लगभग उसी रूप में ले आए हैं जो शुक्लजी द्वारा प्रस्तुत किया गया है। सिर्फ मध्यकाल को इन्होंने शुक्लजी द्वारा प्रस्तुत दो कालों में विभाजित करने के स्थान पर तीन

१. डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त—हिंदी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास, पृ० ७
२. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी—हिंदी साहित्य, पृ० ४८

कालों (पूर्व-मध्य, मध्य-मध्य, उत्तर-मध्य) में विभाजित किया है। संक्षेप में वैज्ञानिकता के नाम पर गुप्तजी के ये मनगढ़न्त विचार ही हैं। अतः स्वयं लेखक को अपने द्वारा प्रस्तुत काल-विभाजन का पुनर्परीक्षण करना चाहिए और इस बात पर गौर करना चाहिए कि वैज्ञानिक होते हुए भी अब तक उनके ये विचार स्वीकार्य क्यों नहीं हुए।

हिन्दी साहित्य का मान्य काल-विभाजन

निष्कर्ष यह है कि शुक्लजी के बाद हिन्दी साहित्य के काल-विभाग को लेकर जो भी प्रयास हुए वे स्वयं दोषपूर्ण हैं या इतने अस्पष्ट और गुम्फित हैं कि वे स्वीकार नहीं किये गए और आज भी शुक्लजी द्वारा प्रस्तुत काल-विभाग ही हिन्दी साहित्य का वास्तविक काल-विभाग माना जाता है। डॉ० गुप्त के ही शब्दों में—"हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखन की उपर्युक्त दीर्घ परम्परा में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का कार्य उसका वह मध्यवर्ती प्रकाश-स्तंभ है, जिसके समक्ष सभी पूर्ववर्ती प्रयास आभा-शून्य प्रतीत होते हैं तो साथ ही परवर्ती प्रयास उसके आलोक से आलोकित हैं।" नागरी प्रचारिणी सभा, काशी के प्रयास से लिखा जा रहा 'हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास' जो सत्रह खण्डों में प्रकाशित होगा, शुक्लजी के काल-विभाग को आधार मानकर ही लिखा जा रहा है।

३
आदिकाल का स्वरूप

आदिकाल के वास्तविक स्वरूप को जान लेना सहज नहीं है। यह काल भारतीय चिन्ताधारा का वह स्थल है जहाँ एक साथ परस्पर-विरोधी तत्त्व साहित्य के क्षेत्र में नज़र आते हैं। राजनैतिक दृष्टि से यह अत्यन्त उथल-पुथल का काल रहा है। विदेशी आक्रमण का सूत्रपात इसी समय हुआ था। सामाजिक दृष्टि से दो संस्कृतियों के मिलन का अपूर्व वातावरण इस समय व्याप्त था। देश की आन्तरिक शान्ति और सुव्यवस्था के खण्डित हो जाने पर सामाजिक स्थिति छिन्न-भिन्न हो रही थी। धार्मिक दृष्टि से यह युग सर्वाधिक अव्यवस्थित था। एक साथ कई धर्म और सम्प्रदाय जनता पर अपना प्रभुत्व जमाए हुए थे। कुछ ज्ञान और दर्शन के सहारे उन्हें आकर्षित कर रहे थे तो कुछ तंत्र, मंत्र और सिद्धियों-चमत्कारों के भुलावे में जनता को भ्रमित कर रहे थे। वैष्णव, जैन, कौल, पांचरात्र, शैव, कापालिक, शाक्त, सिद्ध, नाथ आदि कई छोटे-छोटे धार्मिक सम्प्रदाय एक साथ दृष्टिगत हो रहे थे। ऐसी स्थिति में इस समय लिखे गए साहित्य में परस्पर-विरोधी और असम्बद्ध प्रवृत्तियों का दिखाई देना स्वाभाविक है। "शायद ही भारतवर्ष के साहित्य के इतिहास में इतने विरोधों और स्वतो-व्याघातों का युग कभी आया होगा। इस काल में एक तरफ तो संस्कृत के ऐसे बड़े-बड़े कवि उत्पन्न हुए, जिनकी रचनाएँ अलंकृत काव्य-परम्परा की चरम-सीमा पर पहुँच गई थीं और दूसरी ओर अपभ्रंश के कवि हुए, जो अत्यन्त सहज-सरल भाषा में, अत्यन्त संक्षिप्त शब्दों में, अपने मनोभाव प्रकट करते थे। ×× फिर धर्म और दर्शन के क्षेत्र में भी महान् प्रतिभाशाली आचार्यों का उद्भव इसी काल में हुआ था और दूसरी ओर निरक्षर सन्तों के ज्ञान प्रचार का बीज भी इसी काल में बोया गया। ××× संक्षेप में इतना जान लेना यहाँ पर्याप्त है कि यह काल भारतीय विचारों के मन्थन का काल है, इसलिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।"[1] ऐसा साहित्य निस्सन्देह अध्ययन में सजगता की अपेक्षा रखता है।

१. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी—हिंदी साहित्य का आदिकाल, पृ० १

इसलिए आदिकाल का अध्ययन बड़े धीरज और विश्वास के साथ किया जाना चाहिए। यदि ऐसा नहीं किया गया तो हिन्दी साहित्य की हानि ही होगी। मौलिकता-प्रदर्शन के मोह को छोड़कर निष्पक्ष भाव से सचाई के साथ आदिकाल का अध्ययन किया जाना चाहिए। हिन्दी साहित्य की पीठिका होने से भी इस साहित्य का महत्त्व बढ़ जाता है। यहीं से न केवल हिन्दी के साहित्य का विकास प्रारम्भ होता है बल्कि परवर्ती हिन्दी साहित्य की अनेक प्रवृत्तियों, काव्य-शैलियों आदि का उद्गम-स्थल भी यही साहित्य है। काव्यरूपों के प्रयोग की दृष्टि से भी इस काल के साहित्य का महत्त्व है। दोहा, चौपाई इत्यादि अनेक नवीन छन्दों के संदर्भ भी इसी साहित्य में देखे जा सकते हैं। अस्तु, अंतर्विरोधों से युक्त इस साहित्य को इसके समस्त आयामों के साथ समग्ररूप में एकबारगी ही देखने की अपेक्षा उसके स्वरूप को स्पष्ट करने वाले एक-एक पहलू को पृथक् से देखना उचित रहेगा। ऐसा करने पर हमें आदिकाल के स्वरूप को प्रकट करने वाले मुख्य तीन पहलू दृष्टिगत होते हैं :

१. आदिकाल की सीमा—आदिकाल की वास्तविक शुरुआत कब से मानी जाय? उसका पूर्वापर सम्बन्ध क्या है? उसकी परवर्ती सीमा क्या है? अपभ्रंश और भक्तिकाल के मध्य इसे किस रूप में देखना चाहिए?—इत्यादि।

२. आदिकाल का नामकरण—विविध विद्वानों के द्वारा इस काल को किन-किन नामों से पुकारा गया है? उनके औचित्य का परीक्षण और उपयुक्त नाम की तलाश—इत्यादि।

३. आदिकाल की साहित्य-सामग्री—निर्धारित सीमा में पड़ने वाली किस सामग्री को स्वीकार करना चाहिए और किसे नहीं? अपभ्रंश के कौन-कौन-से ग्रंथ इसके अंतर्गत समाहित किए जाने चाहिए? देश-भाषा के साहित्य को किस रूप में स्वीकार करना चाहिए—इत्यादि।

इस प्रकार आदिकाल के स्वरूप को उपर्युक्त बिन्दुओं के आधार पर स्पष्ट करने का प्रयास किया जाएगा। इनमें से प्रत्येक बिन्दु को सविस्तार देखते हुए उचित परिणामों पर पहुँचने की चेष्टा की जाएगी।

आदिकाल का नामकरण

आदिकाल के नामकरण की चर्चा शुरू करने से पूर्व नामकरण के विविध आधारों को जान लेना जरूरी है। क्योंकि काल-विशेष की प्रवृत्तियों और परिस्थितियों के अनुकूल रखा गया उपयुक्त नाम जहाँ उस काल की साहित्यिक स्थिति को समझने में सहायक होता है वहीं अनुपयुक्त नाम विवाद को प्रोत्साहित करता है। आदिकाल के नाम को लेकर जो विवाद खड़ा हुआ है उसका एक कारण मौलिक कथन की प्रवृत्ति है, जिसके लिए नाम के औचित्य को सिद्ध

करने वाले आधारों की उपेक्षा की जाती रही है। अतः प्रथमतः नामकरण के आधारों की ही चर्चा की जाती है।

नामकरण का आधार

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने प्रथम बार काल-विशेष के नामकरण के लिए ठोस आधार प्रस्तुत किए हैं। शुक्लजी से पूर्व के इतिहासकारों ने मनमाने ढंग से काल-खण्डों का नामकरण किया है। डॉ० ग्रियर्सन ने ग्रंथ के अध्यायों को ही अलग-अलग काल मान लिया है। मिश्रबन्धुओं ने बिना किसी कारण बतलाए हिन्दी साहित्य का विभाजन पूर्व-मध्य और आधुनिक काल शीर्षकों में किया है। शुक्लजी ने पहली बार अपने इतिहास को विविध कालों में विभाजित करते समय दो आधार प्रस्तुत किए हैं:

१. **प्रवृत्ति की प्रधानता**—जिस कालखण्ड के भीतर किसी विशेष ढंग की रचनाओं की प्रचुरता दिखाई पड़ी है वह एक अलग काल माना गया है और उसका नामकरण उन्हीं रचनाओं के स्वरूप के अनुसार किया गया है। इस प्रकार काल का एक निर्दिष्ट सामान्य लक्षण बताया जा सकता है।[1] जैसे—भक्तिकाल।

२. **ग्रन्थों की प्रसिद्धि**—दूसरी बात है ग्रन्थों की प्रसिद्धि। किसी काल के भीतर जिस एक ही ढंग के बहुत अधिक प्रसिद्ध ग्रन्थ चले आते हैं, उस ढंग की रचना उस काल के लक्षण के अन्तर्गत मानी जाएगी, चाहे और दूसरे ढंग की अप्रसिद्ध और साधारण कोटि की बहुत-सी पुस्तकें भी इधर-उधर कोनों में पड़ी मिल जाया करें।[2]

इस प्रकार साहित्य के काल विशेष का नामकरण किस प्रकार किया जाना चाहिए इसके लिए एक दृष्टि दी है। इन दो आधारों पर उनका इतिहास समाधारित है। किन्तु आज उपर्युक्त दो आधारों तक ही सीमित रहकर इतिहास के कालखण्डों का नामकरण नहीं किया जाता! वैसे भी शुक्लजी द्वारा बतलाई गई प्रवृत्ति की प्रधानता की बात तो ठीक है पर ग्रन्थों की प्रचुरता की बात आज स्वीकार नहीं की जाती। साहित्य के क्षेत्र में गणितीय प्रयोग ठीक नहीं लगते। अर्थात् ग्रन्थों की प्रचुरता को देखते हुए उसे एक नाम दे देना ठीक नहीं लगता। ऐसा करने पर अन्य प्रवृत्तियों वाले ग्रन्थों पर से ध्यान हट जाता है। संख्या की न्यूनता या प्रचुरता ग्रन्थों के महत्त्व को नहीं प्रकट करती बल्कि उनकी प्रवृत्तियाँ ऐसा करती हैं। इस सम्बन्ध में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का कथन ठीक है कि "वस्तुतः काल-प्रवृत्ति का निर्णय प्राप्त ग्रन्थों की संख्या द्वारा नहीं हो

---

१. आ० रामचन्द्र शुक्ल—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० २ (वक्तव्य)
२. वही, पृ० २

सकता वल्कि उस काल की मुख्य प्रेरणादायक वस्तु के आधार पर ही हो सकता है।"

द्विवेदीजी प्रभावोत्पादकता और प्रेरणा-संचारक तत्वों को उपयुक्त आधार मानते हैं—"प्रभाव उत्पादन और प्रेरणा-संचारक तत्त्व ही साहित्यिक काल के नामकरण का उपयुक्त निर्णायक हो सकता है।"[1]

इनके अतिरिक्त कुछ आधार और हैं जिनको ध्यान में रखकर साहित्यिक-काल का नामकरण किया जाता रहा है। उनमें से कुछ इस प्रकार हैं :

१. जाति विशेष के नाम के आधार पर—कभी-कभी एक समूची जाति जव एक विशेष ढंग की रचनाएँ प्रस्तुत करती है तो उसके नाम से ही उस काल को पुकारा जाता है। जैसे—चारणकाल। डॉ० रामकुमार वर्मा ने आदिकाल में चारण कवियों की प्रधानता को देखते हुए उसे चारणकाल कहा है—"राजस्थान राजनीति का प्रधान क्षेत्र होने के कारण अपने यहाँ के चारणों और भाटों को मौन नहीं रख सका।"[2] डॉ० ग्रियर्सन ने भी 'चारणकाल' नाम का प्रयोग किया है।

२. भाषा-विशेष के नाम के आधार पर—साहित्य की भाषा के आधार पर भी कभी-कभी काल का नामकरण किया जाता है। जैसे—अपभ्रंश काल, पुरानी हिन्दी काल। 'अतः आदिकाल का नामकरण हम उत्तर अपभ्रंशकाल भी कर सकते हैं।"[3] इसी प्रकार डॉ० रामकुमार वर्मा ने दो भाषाओं की सन्धि के काल को 'सन्धिकाल' नाम दिया है।

३. व्यक्ति विशेष के नाम पर—साहित्य के क्षेत्र में कभी-कभी एक साहित्यकार का व्यक्तित्व इतना प्रधान हो जाता है कि उस काल के अन्य साहित्यकार उसी के आदर्शों का अनुसरण करने लगते हैं, तव उस काल को उस व्यक्ति-विशेष के नाम से ही पुकारा जाता है। जैसे—भारतेन्दुकाल, द्विवेदीकाल। छायावाद के लिए प्रसुमनकाल नाम का प्रयोग भी किया जाता है जिसका प्रत्येक वर्ण एक कवि का नाम प्रकट करता है— प्र=प्रसाद, सु=सुमित्रानन्दन पंत, म=महादेवी वर्मा, न=निराला।

४. विशिष्ट रचना-शैली के आधार पर—जव एक समय के सभी साहित्यकार एक विशिष्ट ढंग की रचनाएँ करने लगते हैं, जो क्रमशः वाद की सीमा तक जा पहुँचता है तो उस रचना-शैली के आधार पर उस काल का नामकरण किया जाता है। जैसे—छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद आदि।

५. प्राचीनता या अर्वाचीनता के आधार पर—प्राचीनता या आधुनिकता के आधार पर भी साहित्य के कालों का नामकरण किया जाता है—आदिकाल, मध्यकाल, आधुनिक काल आदि।

---

१. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी—हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ० २४
२. डॉ० रामकुमार वर्मा—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० २०५
३. डॉ० हरीश—आदिकालीन हिन्दी साहित्य शोध, पृ० ४६

६. साहित्यिक रचनाओं के स्तर के आधार पर—विशिष्ट काल की साहित्यिक रचनाओं के स्तर को देखते हुए भी काल-विशेष का नामकरण किया जाता है, जैसे—उत्कर्षकाल, चरमोत्कर्षकाल, अपकर्षकाल अंधकारकाल आदि। डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त ने अपने वैज्ञानिक इतिहास में इसी प्रकार से नामकरण किया है।

७. शासकों या धार्मिक सम्प्रदायों के नाम पर—अंग्रेजी साहित्य में शासकों के नाम पर नामकरण का प्रचलन है- जैसे —एलिजाबेथ पीरियड आदि। हिन्दी में इसी से मिलता-जुलता नामकरण राहुलजी ने किया है। उन्होंने आदिकाल का नाम उस समय सिद्धान्तों के साथ सामन्तों की प्रधानता को देखते हुए 'सिद्ध सामन्तकाल' रखा है। डॉ० ग्रियर्सन ने भी 'कम्पनी के शासन में हिन्दुस्तान', 'महारानी विक्टोरिया के शासन में हिन्दुस्तान' आदि शीर्षकों का प्रयोग किया है।

८. राजनैतिक घटनाओं के आधार पर—राजनैतिक घटनाओं के पूर्व या पश्चात् के साहित्य को उस घटना के आधार पर नाम दिया जाता है जैसे स्वातंत्र्योत्तर काल, उन्नीसवीं सदी का पुनर्जागरण, दो महायुद्धों के मध्य की कविता, आदि।

९. समय-खण्डों के आधार पर—कभी-कभी समय के अलग-अलग खण्डों के आधार पर भी नामकरण किया जाता है, जैसे—बीसवीं सदी का साहित्य, पिछले दशक की हिन्दी कविता, आदि।

१०. गद्य-पद्यात्मकता की प्रधानता के आधार पर—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने आधुनिक काल में गद्य साहित्य की प्रधानता को देखते हुए उसे गद्य-काल नाम दिया है।

इस प्रकार साहित्येतिहास में विविध कालों के लिए नामकरण की कई प्रणालियाँ अपनायी गई हैं। उपर्युक्त सभी आधारों को आज सर्वमान्य रूप में अपना लिया गया है। नामकरण के आधारों से परिचित हो जाने के बाद अब आदिकाल के नामकरण के प्रमुख विषय को लिया जाता है।

आदिकाल का नामकरण विवाद का कारण बना हुआ है। यह काल राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक दृष्टि से इतना अस्त-व्यस्त रहा है कि इस समय का साहित्य किसी एक प्रवृत्ति को लेकर नहीं लिखा गया। एक साथ अनेक प्रवृत्तियाँ, वीरत्व, शृंगार, मनोरंजन आदि इस काल के साहित्य में दिखाई पड़ती हैं। इसके फलस्वरूप आज तक आदिकाल के लिए कोई सर्वमान्य नाम नहीं सुझाया जा सकता है। प्रारम्भ से लेकर आज तक प्रायः सभी इतिहासकारों ने इस सम्बन्ध में अपने मन्तव्य प्रकट किये हैं, स्वतंत्र रूप से भी कुछ विद्वानों ने

अपनी समझ से नाम सुझाये हैं, किन्तु वे सर्वमान्य नहीं हो सके हैं। इस वैविध्य-पूर्ण साहित्य में से कोई वीरत्व को महत्त्व देता है तो कोई धार्मिकता को। इस लिए आदिकाल के नामकरण का प्रश्न हल नहीं हो पाया है। फिर भी प्रत्येक मत को जानकर उनकी समीक्षा कर लेना आवश्यक है।

आदिकाल के नाम के सम्बन्ध में विविध विद्वानों के सुझाव

गार्सा द तासी और शिवसिंह सेंगर ने हिन्दी साहित्य के प्रारम्भिक इतिहास लिखे लेकिन उन्होंने साहित्य का काल-विभाजन नहीं किया है। वस्तुतः इनके ग्रंथ कविवृत्त-सग्रह से अधिक नहीं जान पड़ते। इसलिए इनके ग्रन्थों से आदि-काल के नानकरण पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। डॉ० ग्रियर्सन ने अपनी पुस्तक 'दी माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर ऑफ नॉर्दर्न हिन्दुस्तान' में आदिकाल के लिए चारणकाल नाम प्रयुक्त किया है। किन्तु इन्होंने यह शीर्षक क्यों चुना इसके लिए किसी प्रकार की सूचना इनके ग्रंथ से नहीं मिलती। अतः ग्रियर्सन का मत भी विशेष महत्त्व नहीं रखता। इस काल के लिए 'आदिकाल' नाम का प्रयोग सर्व-प्रथम मिश्रबन्धुओं ने किया था। किन्तु जैसा कि कहा जा चुका है उनके इस नामकरण का आधार कहीं प्राप्त नहीं होता। ऐसा लगता है उन्होंने प्रवृत्तियों आदि पर किसी भी प्रकार का ध्यान न देकर इस काल के साहित्य की प्रारम्भिकता को ही ध्यान में रखा है। अर्थात् जो साहित्य इतिहास के आदिम समय पड़ता था, उसको उन्होंने सीधे-सादे तरीके से आदिकाल कह दिया। इसलिए उनके ग्रन्थ से इस नाम का औचित्य नहीं दिखाई पड़ता।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मत : 'वीरगाथा काल'—एक लम्बे समय तक आदिकाल के लिए शुक्लजी का दिया हुआ वीरगाथाकाल नाम प्रयुक्त होता रहा। आज भी कतिपय विद्वान् वीरगाथाकाल नाम का प्रयोग ही करते हैं। लेकिन शुक्लजी द्वारा दिया गया नाम अपनी ही कमियों के कारण मान्य नहीं हुआ। शुक्लजी ने कुल बारह पुस्तकों के आधार पर नामकरण किया है। उनमें से चार पुस्तकें अपभ्रंश की हैं और शेष आठ देशभाषा की हैं, जो इस प्रकार हैं :

१. विजयपाल रासो
२. हम्मीर रासो
३. कीर्त्तिलता
४. कीर्तिपताका

देशभाषा की रचनाएँ—

५. खुमान रासो
६. बीसलदेव रासो

७. पृथ्वीराज रासो
८. जयचंद प्रकास
९. जयमयंक जसचंद्रिका
१०. परमाल रासो (आल्हा का मूल रूप)
११. खुसरो की पहेलियाँ आदि
१२. विद्यापति पदावली

इनमें से वीसलदेव रासो, खुसरो की पहेलियाँ और विद्यापति की पदावली को छोड़कर शेष सब ग्रंथ वीररसात्मक हैं। "अतः आदिकाल का नाम 'वीरगाथा-काल' ही रखा जा सकता है।"[1] सिर्फ बारह पुस्तकें ही क्यों देखी गईं इसके लिए वे कहते हैं :

१. अपभ्रंश की कई पुस्तकों में से कई तो जैनों के धर्मतत्त्व-निरूपण सम्बन्धी हैं जो साहित्य की कोटि में नहीं आतीं और जिनका उल्लेख केवल यह दिखाने के लिए ही किया गया है कि अपभ्रंश भाषा का व्यवहार कब से हो रहा था।[2]

२. साहित्य-कोटि में आने वाली रचनाओं में कुछ तो भिन्न-भिन्न विषयों के फुटकल दोहे हैं जिनके अनुसार उस काल की कोई विशेष प्रवृत्ति निर्धारित नहीं की जा सकती।[3]

३. सिद्धों और योगियों की रचनाएँ साहित्य-कोटि में नहीं आतीं और योग-धारा काव्य या साहित्य की कोई धारा नहीं मानी जा सकती।

उपर्युक्त निषेधों के कारण सिर्फ बारह पुस्तकें बचती हैं जिसके आधार पर उन्होंने यह नामकरण किया है। शुक्लजी से पहले मिश्रबन्धुओं ने इन बारह पुस्तकों के अलावा दस अन्य पुस्तकों की चर्चा आदिकाल के अन्तर्गत की है। वे इस प्रकार हैं :

१. भगवद्गीता
२. वृद्ध नवकार
३. वर्तमाल
४. संवतसार
५. पत्तलि
६. अनन्य योग
७. जम्बूस्वामीरासा

१. आ० रामचन्द्र शुक्ल—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ३ (वक्तव्य)
२. वही, पृ० ३
३. वही, पृ० ३

८. रैवतगिरि रासा
९. नेमिनाथ चउपई
१०. उवएस माला ।

किन्तु इन पुस्तकों को भी शुक्लजी विवेच्य सामग्री के अन्तर्गत स्वीकार नहीं करते। क्योंकि इनमें से—

(१) 'भगवद्गीता' परवर्ती काल की रचना है।
(२) 'वृद्ध नवकार', 'जम्बूस्वामीरासा,' 'नेमिनाथ चउपई,' 'उवएस माला' जैन-धर्म की पुस्तकें होने से साहित्य की कोटि में नहीं आतीं।
(३) 'वर्तमाल' और 'संवतसार' पुस्तकें उल्लेख मात्र हैं।
(४) 'अनन्य योग' योग की पुस्तक है अतः साहित्य में अस्वीकार्य है।
(५) इस प्रकार केवल दो पुस्तकें बचीं—'पत्तलि' और 'रैवतगिरि रासा'। ये दोनों ही वर्णनात्मक पुस्तकें हैं। 'पत्तलि' में नंद के ज्योनार का वर्णन है तो 'रैवतगिरि रासा' में गुजरात के रैवतक पर्वत का वर्णन है।
(६) इसलिए शुक्लजी ने इन पुस्तकों को छोड़ दिया है।

वैसे शुक्लजी के अनुसार यदि इन सभी पुस्तकों को वारह पुस्तकों की सूची में जोड़ दिया जाए तो भी आदिकाल का नाम वीरगाथाकाल ही ठहरता है। "यदि ये भिन्न-भिन्न प्रकार की नौ पुस्तकें साहित्यिक भी होतीं तो भी मेरे नामकरण में कोई वाधा नहीं डाल सकती थीं क्योंकि मैंने नौ प्रसिद्ध वीरगाथात्मक पुस्तकों का उल्लेख किया है।"[१]

स्पष्ट है कि शुक्लजी ने यह नाम ग्रंथों की प्रचुरता के आधार पर दिया है। किन्तु आज ग्रन्थों की प्रचुरता को नामकरण का ठोस आधार नहीं माना जाता, यह पहले ही वताया जा चुका है। इसके अतिरिक्त परवर्ती परीक्षणों के वाद शुक्लजी के नामकरण में कुछ न्यूनताएँ भी देखी गईं। इन कमियों के कारण वीरगाथाकाल नाम स्वीकार नहीं किया जाता।

शुक्लजी के मत की न्यूनताएँ—शुक्लजी ने धार्मिक कहकर जैन तथा बौद्ध-साहित्य की पुस्तकों को स्वीकार नहीं किया है, इस पर हजारीप्रसादजी को आपत्ति है। इनके अनुसार धार्मिकता को साहित्य के क्षेत्र की वाधा नहीं मानना चाहिए। धार्मिक होने मात्र से कोई कृति साहित्यिक क्षेत्र से वाहर नहीं की जा सकती। यदि ऐसा किया गया तो सिर्फ आदिकाल की कुछ पुस्तकें ही नहीं अपितु भक्तिकाल की भी कई पुस्तकें साहित्य के वाहर कर दी जायेंगी—"केवल नैतिक

---

१. आ० रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ५ (वक्तव्य)

और धार्मिक या आध्यात्मिक उपदेशों को देखकर यदि हम ग्रन्थों को साहित्य-सीमा से बाहर निकालने लगेंगे तो हमें आदिकाव्य से भी हाथ धोना पड़ेगा, तुलसी रामायण से भी अलग होना पड़ेगा और जायसी को भी दूर से दण्डवत् करके विदा कर देना होगा। मध्ययुग के साहित्य की प्रधान प्रेरणा धर्म-साधना ही रही है।"[1] अतः द्विवेदीजी की यह स्थापना है कि जैनों, सिद्धों, नाथों का साहित्य उपेक्षणीय नहीं है और उसे आदिकाल में स्थान मिलना चाहिए। इस समूचे साहित्य को स्वीकार करने पर वीरता की प्रवृत्ति प्रधान प्रवृत्ति नहीं ठहरती। अतः वीरगाथाकाल नाम अनुचित है। आज लगभग सभी विद्वान् इस मत के पोषक हैं कि साहित्य पर धार्मिकता का अंकुश नहीं लगाना चाहिए।

अब शुक्लजी द्वारा गिनाई गई सामग्री को लें। वे बारह पुस्तकें जिन पर उन्होंने आदिकाल का ढाँचा खड़ा किया है, भी अब अधिक विश्वसनीय नहीं ठहरतीं। "इधर हाल की खोजों से पता चलता है कि जिन बारह पुस्तकों के आधार पर शुक्लजी ने इस काल की प्रवृत्तियों का विवेचन किया था, उनमें से कई पीछे की रचनाएँ हैं, और कई नोटिस मात्र हैं और कई के सम्बन्ध में यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि उनका मूल रूप क्या था?"[2] अनुसन्धानों के द्वारा अब यह स्पष्ट हो गया है कि—(क) 'खुमान रासो' और 'बीसलदेव रासो' पीछे की रचनाएँ हैं; (ख) 'हम्मीर रासो,' 'परमाल रासो' नोटिस मात्र हैं, 'जयमयंक जसचन्द्रिका' और 'जयचन्द्र प्रकाश' अनुपलब्ध हैं, 'पृथ्वीराज रासो' मूल रूप में नहीं है। इसी प्रकार 'कीर्तिपताका' भी अप्राप्य है, इस छांगाभोगी के बाद शुक्ल जी के द्वारा गिनाई गई पुस्तकों में से अधिकांश पुस्तकें नामकरण के लिए स्वीकार किए जाने योग्य नहीं हैं। ये पुस्तकें अविवेच्य हैं इसलिए इनके आधार पर नामकरण किया जाना गलत है।

परवर्ती खोजों ने नई सामग्री भी प्रदान की है, जिनका भी उपयोग किया जाना चाहिए। इन पुस्तकों को सम्मिलित किये जाने पर शायद शुक्लजी के निष्कर्ष पर नहीं पहुँचा जा सकेगा। क्योंकि इस सामग्री का वर्ण्य-विषय वैविध्य-पूर्ण है और वीरगाथा के ग्रन्थों के बहुमत को समाप्त करने के लिए पर्याप्त है। 'सनेसरासक', 'करकंडुचरिउ,' 'उक्तिव्यक्ति प्रकरण', 'ढोलामारू रा दूहा' 'भविसयत्त कहा' आदि पुस्तकें ऐसी ही हैं।

राजस्थानी के प्रसिद्ध विद्वान् मोतीलाल मेनारिया का कथन है कि "इसके अतिरिक्त ये रासो ग्रन्थ जिनको वीरगाथाएँ नाम दिया गया है और जिनके आधार पर वीरगाथाकाल की कल्पना की गई है, राजस्थान के किसी समय विशेष

१. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी—हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ० ११
२. वही, पृ० ११

की प्रवृत्ति को सूचित नहीं करते हैं । प्रभुभक्ति का भाव इन जातियों के खून में है, और वे ग्रन्थ उस भावना की अभिव्यक्ति करते हैं । यदि इन रचनाओं के आधार पर कोई निर्णय लिया जाए, तब तो वीरगाथाकाल राजस्थान में आज भी ज्यों का त्यों बना हुआ है···।"[१] इस दृष्टि से चारणों का साहित्य आदिकाल के नामकरण के लिए विश्वसनीय सामग्री नहीं है और इससे शुक्लजी के द्वारा प्रस्तुत वीरगाथाकाल नाम निर्मूल सिद्ध हो जाता है ।

उपर्युक्त कारणों से अब आदिकाल के लिए वीरगाथाकाल नाम स्वीकार नहीं किया जाता । शुक्लजी के नामकरण की न्यूनताओं ने अन्य लोगों को अपने विचार अभिव्यक्त करने का अवसर दिया और विविध नाम इस सम्बन्ध में सुझाए गए।

डॉ० रामकुमार वर्मा का मत: 'चारणकाल'—वर्माजी ने आदिकाल का नाम चारणकाल रखा है । इससे पूर्व डॉ० ग्रियर्सन ने भी चारणकाल का प्रयोग किया है, यद्यपि दोनों के द्वारा बतलाए समयों में पर्याप्त अन्तर है तथापि चारणकाल कहकर दोनों एक ही प्रवृत्ति की ओर संकेत करते हैं । वर्माजी ने वीरगाथाकाल की जगह चारणकाल नाम क्यों रखा है, इसका कोई स्पष्ट कारण नहीं बतलाया है । किन्तु उनका अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि उस काल के मुख्य रचनाकार चारण जाति के थे इसलिए इस जाति के कवियों के साहित्य को 'चारणकाल' के कवियों का साहित्य कहना चाहिए । "राजस्थान राजनीति का प्रधान क्षेत्र होने के कारण अपने यहाँ के चारणों और भाटों को मौन नहीं रख सका ।"[२] चारणों की रचनाओं की प्रधानता के कारण यह काल चारणकाल कहलाया ।

वर्माजी के मत की समीक्षा—वर्माजी के नामकरण पर सबसे बड़ा आरोप उनके द्वारा बतलाई गई साहित्यिक सामग्री को लेकर है। चारणकाल में जिन पुस्तकों की चर्चा वर्माजी ने की है, उनमें से बीसलदेव को छोड़कर एक भी पुस्तक चारणों की लिखी नहीं है। यानी संवत् १००० से १३७५, जिसे वर्माजी ने चारण-काल की सीमा बतलाया है, के मध्य सिर्फ एक पुस्तक चारणकवि की लिखी हुई है । वर्माजी ने चारणों की जो अन्य पुस्तक गिनाई हैं वे या तो पहले की हैं या चारणकाल के बाद की लिखी हुई हैं। 'बीसलदेव रासो' भी अब खोजों के आधार पर चारणकाल की रचना नहीं ठहरती, इसलिए वर्माजी का नामकरण चारण जाति के एक भी कवि की रचना इस काल में प्रस्तुत न करने के कारण अपने आप खण्डित हो जाता है । मेनारियाजी का यह कथन कि चारण जाति का साहित्य

१. मोतीलाल मेनारिया—राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृ० ८१
२. डॉ० रामकुमार वर्मा—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० २०५

नामकरण की दृष्टि से अधिक विश्वसनीय नहीं है, भी चारणकाल नाम के विरोध में पड़ता है।

राहुल सांकृत्यायन का मत : 'सिद्ध-सामन्तकाल'—राहुलजी ने नवीन दृष्टि से इस विषय पर सोचकर सिद्ध-सामन्तकाल नाम दिया है। आपका अभिप्राय सिर्फ इतना है कि उस समय धार्मिक क्षेत्र में सिद्धों का प्रभुत्व था तो राजनैतिक क्षेत्रों में सामन्तों का बोलबाला था। सिद्धों का साहित्य दोहों तथा चर्यापदों में मिलता है। यह शब्द तत्कालीन धार्मिक प्रवृत्तियों के लिए उपयुक्त है तो सामन्त शब्द उस समय की राजनैतिक घटनाओं का संकेत करता है। "तत्कालीन कविताओं में हमें तीन बातों की छाप मिलती है—रहस्यवाद या आध्यात्मिक भूल-भुलैया, निराशावाद और युद्धवाद या वीररस। ये तीनों काव्य-भावनाएँ उस वक्त के शासक-समाज की आवश्यकता के बिलकुल उपयुक्त थीं। X X X हमारी इन पाँच सदियों में सामन्त वस्तुतः निर्भय वीर होते थे। उनके देश-विजयों के बारे में कवि अतिशयोक्ति भले ही कर सकता है, लेकिन शरीर पर तीरों और तलवारों के घावों के चिह्नों के बारे में अतिरंजना की जरूरत नहीं थी। ऐसे समाज के लिए वीररस की कविताएँ बिलकुल स्वाभाविक हैं।"[1] इन पंक्तियों में राहुलजी ने सामन्त शब्द का प्रयोग करने के लिए दो कारण बतलाए हैं—एक तो उस समय की काव्य-प्रवृत्तियाँ (रहस्य, निराशा, वीररस) शासक-समाज की अवस्था के अनुरूप थीं; दूसरे ये शासक (सामन्त) निर्भय वीर होते थे अतः वीररस की कविताएँ बिलकुल स्वाभाविक थीं। और सिद्ध शब्द के औचित्य को प्रकट करते हुए वे कहते हैं, "युद्ध एक पासा है, जो कभी चित्त भी पड़ जाता है, कभी पट भी। असफल सामन्त के लिए निराशा आवश्यक है, लेकिन निराशा आदमी के दिल को हर वक्त जलाया करती है, इसलिए सब कुछ भूल जाने के लिए आध्यात्मिक भूल-भुलैया या रहस्यवाद भी उतना ही जरूरी है। X X X हाँ, सिद्धों ने सरल भाषा में अपनी कविताएँ लिखकर उनके (साधारण जनता के) भीतर घुसने की कोशिश की।"[2] सामन्तीय वातावरण जो युद्ध के कारण वीरता और निराशा से प्रधान था, के कारण तथा आध्यात्मिक क्षेत्रों में सिद्धों के रहस्यवाद के कारण इस काल को 'सिद्ध-सामन्तकाल' कहते हैं। राहुलजी के इस नामकरण के प्रति द्विवेदीजी ने भी अपनी सहमति जतलाई है, "विषयवस्तु को दृष्टि में रखकर इस काल के लिए राहुलजी ने एक और नाम सुझाया है जो बहुत दूर तक तत्कालीन साहित्यिक प्रवृत्ति को स्पष्ट करता है। यह नाम है 'सिद्ध-सामन्त काल'।"[3]

---

१. राहुल सांकृत्यायन—हिन्दी काव्यधारा, पृ० २६
२. वहीं, पृ० २६
३. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी—हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ० २४

राहुलजी के मत की समीक्षा—उस काल की कविता में उत्साह और जोश का वर्णन तो है पर निराशा के दर्शन नहीं हैं। सच तो यह है कि उस समय के कवियों ने अपने आश्रयदाता की अतिरंजनापूर्ण प्रशंसा की है और अपने चरित-नायक को या तो कहीं भी पराजित नहीं दिखलाया है अथवा उसकी पराजय को इस ढंग से प्रस्तुत किया है कि परिस्थितियाँ ही उसके लिए अधिक दोषी ठहरती हैं। इसलिए उस काल के साहित्य मे निराशा कही दिखाई नहीं देती। दूसरे, इस नाम से आदिकाल के समस्त साहित्य के साथ न्याय नहीं होता। जैन साहित्य, जो आदिकाल का सर्वप्रधान साहित्य है, इस नाम के कारण उपेक्षित हो जाता है। तीसरे, इस नाम से युगीन समस्त रसों की सामग्री का परिचय नही मिलता। द्विवेदीजी ने भी कहा है, "इस नाम से उस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण लौकिक रस की रचनाओं का कुछ भी पता नही चलता जो परवर्ती काव्य में भी वहुत व्यापक रूप में प्रकट हुई हैं।"[1] अतः सिद्ध-सामन्तकाल नाम भी वहुत उपयुक्त नाम नहीं हे।

डॉ० कमल कुलश्रेष्ठ का मत : 'अंधकारकाल'—आचार्य द्विवेदीजी ने एक जगह कहा हे कि, "इस अंधकार युग को प्रकाशित करने योग्य जो भी चिनगारी मिल जाय उसे सावधानी से जिला रखना कर्तव्य है, क्योंकि वह वहुत वड़े आलोक की सम्भावना लेकर आयी होती हे।"[2] संभवतः इसमें उल्लिखित अंधकार युग को आधार मानकर डॉ० कमल कुलश्रेष्ठ ने आदिकाल का नामकरण 'अंध-कारकाल' किया है। उनके मतानुसार, "खोज की वर्तमान स्थिति में यह हमारे साहित्य का अंधकारकाल हे, हिन्दी साहित्य का प्रारम्भ कव से हुआ, इसके विपय मे विभिन्न मत हैं। इस समय की भापा अपभ्रंश या अपभ्रंशाभास प्राकृत थी। इनकी संधिकालीन स्थिति संदिग्ध है। अतः इस संदिग्ध अवस्था वाले समय को अंधकारकाल कहना ही अधिक समीचीन होगा।"[3] कुलश्रेष्ठजी का इतना ही कहना है कि अभी तक आदिकाल का स्वरूप अस्पष्ट है, उस पर अभी तक कार्य होना वाकी हे, इसलिए तव तक इसे अंधकारकाल कहना चाहिए।

कुलश्रेष्ठजी के मत की समीक्षा—वर्तमान अनुसन्धान और खोजों के कारण अव यह नही कहा जा सकता कि आदिकाल अभी तक अंधकारयुक्त है। हिन्दी साहित्य का विकास दसवीं शताब्दी से ही हुआ हे, इसके समर्थक विद्वानों की संख्या अधिक है। उस समय की भापा के स्वरूप को भी अव पहचाना जा चुका है। इस प्रकार अव यह अंधकारकाल नहीं रहा है।

पं० चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' का मत : 'पुरानी हिन्दीकाल'—गुलेरीजी ने

---

१. आ० हजारीप्रसाद द्विवेदी—हिन्दी साहित्य, पृ० ८३
२. आ० हजारीप्रसाद द्विवेदी—हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ० २७
३. डॉ० कमल कुलश्रेष्ठ—आदिकालीन साहित्य शोध (डॉ० हरीश), पृ० ४७ से उद्धृत

भाषा के आधार पर इस काल को 'पुरानी हिन्दीकाल' नाम दिया है। "वैसे ही अपभ्रंश को भी 'पुरानी हिन्दी' कहना अनुचित नहीं, चाहे कवि के देश-काल के अनुसार उसमें कुछ रचना प्रादेशिक हो।"[1]

लेकिन भाषा के आधार पर काल के साहित्य का नामकरण नहीं किया जाता। अतः यह नाम स्वीकार्य नहीं हुआ। "जहाँ तक नाम का प्रश्न है, गुलेरीजी का सुझाव पंडितों को मान्य नहीं हुआ है। अपभ्रंश को अब कोई भी पुरानी हिन्दी नहीं कहता।"[2]

कुछ अन्य सुझाव—कुछ अन्य विद्वानों ने इस काल को अलग-अलग नाम दिए हैं, जैसे—उत्तर अपभ्रंश काल,[3] बीजवपन काल।[4]

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का मत : 'आदिकाल'—द्विवेदीजी का सुझाव है कि अन्य उपयुक्त नाम के अभाव में हिन्दी साहित्य की शुरुआत यहीं से होने के कारण इसे आदिकाल ही कहना उचित है। "कुछ आलोचकों को इस काल का नाम आदिकाल ही उपयुक्त जान पड़ता है।"[5] लेकिन आदिकाल नाम भी निर्भ्रान्त नहीं है क्योंकि आदिकाल नाम से कई गलतफहमियाँ पैदा हो सकती हैं, "वस्तुतः 'हिन्दी का आदिकाल' शब्द एक भ्रामक धारणा की सृष्टि करता है कि यह काल कोई आदिम मनोभावापन्न, परम्परा-विनिर्मुक्त, काव्य-रूढ़ियों से अछूते साहित्य का काल है। यह ठीक नहीं है। यह काल बहुत अधिक परम्परा-प्रेमी, रूढ़िग्रस्त और सजग और सचेत कवियों का काल रहा है।"[6] अतः इस काल को आदिकाल कहना भी बहुत ठीक नहीं है। आदिकाल शब्द से किसी साहित्य के प्रारम्भिकता की सूचना मिलती है, वैसी बात इस साहित्य में दिखाई नहीं पड़ती, इस साहित्य में न तो शुरुआत के समय की अव्यवस्था है, न वैसा अनगढ़पन है, न वैसी अपूर्वता ही है। इसकी अपेक्षा इन कवियों ने अपने पूर्ववर्ती कवियों की काव्य-रूढ़ियों का, लक्षणों का, परम्पराओं का पूरी तरह पालन किया है। ये कवि परम्परा-विनिर्मुक्त काव्य के स्वतन्त्र सृष्टा नहीं हैं। एक प्रकार से ये आदिकाल की अपेक्षा मध्यकाल के कवि कहलाने चाहिए क्योंकि इनकी स्थिति अपभ्रंश और हिन्दी के मध्य की है। इन्होंने अपभ्रंश और संस्कृत के कवियों से प्रेरणा लेकर काव्य लिखा है, उनके लक्षणों-परम्पराओं का पालन किया है अतएव ये कवि आदिकाल के नहीं कहे जा सकते। आदि के कवियों में जैसी

१. पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी—हिन्दी काव्यधारा, पृ० ११
२. आ० हजारीप्रसाद द्विवेदी—हिंदी साहित्य, पृ० १७
३. डॉ० हरीश
४. आ० महावीरप्रसाद द्विवेदी
५. आ० हजारीप्रसाद द्विवेदी—हिन्दी साहित्य, पृ० ८३
६. वही, पृ० ७३

लक्षणहीनता दिखाई देती है वैसी स्थिति भी इनके साथ नहीं है। ये कवि काव्य-लक्षणों, छन्दों, अलंकारों सभी के ज्ञाता हैं और वड़े कौशल से उनका प्रयोग अपने काव्यों में करते हैं। इसलिए इनको आदिकाल के कवि कहना गलत है। इसलिए द्विवेदीजी पाठकों को सचेत करते हुए कहते हैं, "यदि पाठक इस धारणा से सावधान रहें तो यह नाम बुरा नहीं है क्योंकि यद्यपि साहित्य की दृष्टि से यह काल, बहुत कुछ अपभ्रंश का बढ़ाव ही है, पर भाषा की दृष्टि से यह परिनिष्ठित अपभ्रंश से आगे बढ़ी हुई भाषा की सूचना लेकर आता है। इसमें भावी हिन्दी भाषा और उसके काव्यरूप अंकुरित हुए हैं।"[1]

आज द्विवेदीजी द्वारा सुझाया हुआ नाम 'आदिकाल' ही इस काल के लिए प्रयुक्त किया जाता है। अन्य उपयुक्त नाम के न मिलने तक यही नाम हमारे लिए बहुत कुछ उपयोगी मालूम पड़ता है।

आदिकाल के आविर्भाव का काल-निर्धारण

आदिकाल का आविर्भाव कब से हुआ, यह आदिकाल की एक प्रमुख समस्या है। जब तक आदिकाल की शुरूआत निश्चित रूप से जानी नहीं जाती तब तक उसके स्वरूप और प्रवृत्तियों का निर्धारण भी नहीं हो सकता। हिन्दी साहित्य का आदिकाल निस्सन्देह हिन्दी भाषा के विकास का प्रारम्भिक काल है। विद्वानों ने भाषा-विकास की दो स्थितियाँ स्वीकार की हैं—एक साहित्यिक भाषा और दूसरी जनभाषा। इनके अनुसार एक भाषा जब साहित्यिक स्वरूप ग्रहण कर लेती है तो पंडितों का ध्यान उसकी ओर आकर्षित होता है। वे उसे व्याकरण के नियमों में बाँधकर शिष्टभाषा का स्वरूप देने की चेष्टा करते हैं। नियमबद्ध होने से ऐसी भाषा एक प्रकार से सामान्य जनता से दूर हट जाती है क्योंकि व्याकरण के नियमों का पालन करना उसके लिए सरल नहीं रहता। जनता उन नियमों से बचने की चेष्टा करती है और इसी चेष्टा में वह वर्तमान भाषा से आगे की भाषा का व्यवहार करने लगती है। इस बढ़ी हुई भाषा को पंडित लोग अपभ्रष्ट या बिगड़ी हुई भाषा कहते हैं। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से यही भाषा का विकास है। जनभाषा और साहित्यिक भाषा का यह चक्र निरन्तर गतिशील रहता है। इसी चक्र से विविध भाषाओं का विकास होता रहता है। इस प्रकार एक ही समय में किसी भाषा के दो रूप समाज में दिखाई देते हैं। पहला रूप साहित्यिक होने के नाते अपेक्षाकृत अधिक परिनिष्ठित और नियमबद्ध होता है, जबकि दूसरा रूप जनता की भाषा का होता है और इसकी प्रवृत्ति सरल हुआ करती है। भारतीय आर्यभाषा के विकास को देखने पर यह स्पष्ट

---

१. आ० हजारीप्रसाद द्विवेदी—हिंदी साहित्य, पृ० ८३

हो जाता है कि विकास के दौरान आर्यभाषा ईसा की पाँचवीं शताब्दी तक एक नवीन स्वरूप ग्रहण कर चुकी थी। संस्कृत प्राकृत की समता में वह भाषा आगे बढ़ी हुई थी जिसे पंडितों ने बिगड़ी हुई भाषा मानकर (अपभ्रष्ट होने से) अपभ्रंश नाम दिया। लेकिन दसवीं शताब्दी ईस्वी तक यही भाषा साहित्यिक भाषा बनकर जनता की भाषा से दूर हट चुकी थी। आचार्य हेमचन्द्र ने इस समय की जनता की भाषा के लिए 'देशी भाषा' का प्रयोग किया है। इसी को प्रकारान्तर से अवहट्ठ, पुरानी हिन्दी, अग्रसरीभूत अपभ्रंश, परवर्ती अपभ्रंश इत्यादि नामों से सम्बोधित किया गया है। निश्चय ही यह भाषा हिन्दी का प्रारम्भिक रूप लिए हुए थी। हिन्दी से इसके सम्बन्ध के कारण ही इस भाषा के साहित्य को हिन्दी साहित्य के साथ देखा जाता है। सामान्यतः इस भाषा का समय दसवीं से चौदहवीं शताब्दी ईस्वी तक माना जाता है। हिन्दी साहित्य के आदिकाल के आविर्भाव का प्रश्न भी इसी भाषा के साथ जुड़ा हुआ है। यही कारण है कि शुक्लजी आदि कई विद्वानों ने इसी समय से अर्थात् दसवीं शताब्दी में ही हिन्दी साहित्य के आविर्भाव को स्वीकार किया है। लेकिन इस भाषा के समय तथा इस भाषा के साहित्य को आदिकाल में स्वीकार करने के लिए विद्वानों में मतैक्य नहीं है। अतएव अपभ्रंश के बाद हिन्दी का विकास स्वतन्त्र रूप में कब से हुआ, इसमें साहित्य-सृजन कब से होने लगा, इन प्रश्नों के समुचित समाधान के लिए सर्वप्रथम अलग-अलग विद्वानों ने हिन्दी का विकास कब से माना है उसे जान लेना आवश्यक है।

हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों का मत

हिन्दी साहित्य के प्रारम्भिक इतिहास-लेखकों ने संवत् ७०० से हिन्दी का विकास माना है। प्रथम इतिहास-लेखक डॉ० ग्रियर्सन तथा मिश्रबन्धुओं के अनुसार हिन्दी के विकास का उचित समय यही है। इनके उक्त कथन का आधार 'पुष्य' या 'पुन्ड' नामक कवि है। इस कवि का समय संवत् ७१३ के लगभग बताया जाता है। यही कवि हिन्दी साहित्य का प्रथम कवि सिद्ध होता है। परवर्ती इतिहासकारों में डॉ० रामकुमार वर्मा ने भी इस कवि के अस्तित्व को स्वीकार किया है। इस कवि का कोई ग्रन्थ अब तक प्राप्त नहीं हुआ है, इसे डॉ० वर्मा भी मानते हैं, तो भी वे इस कवि को ही हिन्दी का पहला कवि मानते हैं। वर्मा जी के अनुसार यह समय ऐसा था जबकि अपभ्रंश और हिन्दी का मिला-जुला रूप दिखाई दे रहा था। उस समय की अपभ्रंश हिन्दी की छाप लिए हुए है इसलिए वह युग विशुद्ध अपभ्रंश का युग नहीं है, बल्कि अपभ्रंश और हिन्दी का सन्धिस्थल है। अतः उस काल को आपने संधिकाल की संज्ञा दी है। लेकिन संवत् १००० के बाद वर्मा जी हिन्दी का काल मानते हैं, जिसे

आपने 'चारणकाल' नाम दिया है। इस प्रकार डॉ० रामकुमार वर्मा के अनुसार हिन्दी साहित्य का वास्तविक विकास संवत् १००० से शुरू हुआ लेकिन संवत् ७५० से अपभ्रंश से निकली हुई हिन्दी की रूपरेखा तैयार हो रही थी।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल आदिकाल की शुरुआत संवत् १०५० से मानते हैं। इनके मतानुसार अपभ्रंश या प्राकृताभास हिन्दी का पहला पता विक्रम की सातवीं शताब्दी के अंत से मिलने लगता है जबकि तांत्रिक और योगमार्गी बौद्धों की रचनाओं का पता चलता है। और मुज और भोज के समय में ऐसी रचनाएँ पुरानी हिन्दी का पूरा पता शुद्ध साहित्य में भी मिलने लगता है, "अतः हिन्दी साहित्य का आदिकाल संवत् १०५० से लेकर संवत् १३७५ तक अर्थात् महाराज भोज के समय से लेकर हम्मीरदेव के समय से कुछ पीछे तक माना जा सकता है।"[1] शुक्लजी आदिकाल की शुरुआत संवत् १०५० से मानने के लिए निम्न तर्क प्रस्तुत करते है :

१. अपभ्रंश या प्राकृताभास हिन्दी का पहला पता बौद्धों के पद्यों से चलता है।

२. यह समय सातवी शताब्दी का अंतिमकाल है।

३. यही प्राकृताभास या पुरानी हिन्दी मुंज या भोज के समय से (संवत् १०५० के लगभग से) शुद्ध साहित्य में मिलती है।

४. अतः संवत् १०५० से ही हिन्दी का विकास होने लगता है।

५. पुष्यकवि को प्रमाण के अभाव में स्वीकार नहीं किया जा सकता इसलिए संवत् ७५० से हिन्दी की शुरुआत नही मानी जा सकती।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी दसवी शताब्दी से ही आदिकाल का आविर्भाव मानते है। आपने अपने इतिहास में, हेमचन्द्र के द्वारा बताए गए, अपभ्रंश के दो रूपों (परिनिष्ठित और ग्राम्य) की चर्चा की है और यह बतलाया है कि दसवी शताब्दी तक परिनिष्ठित अपभ्रंश थी, लेकिन उसके बाद की परवर्ती अपभ्रंश (ग्राम्य अपभ्रंश) उससे आगे बढ़ी हुई भाषा है, जो निस्सन्देह परिनिष्ठित अपभ्रंश से अलग भाषा है। इस एडवान्स्ड अपभ्रंश के काव्यरूपों, रूढ़ियों, परम्पराओं को हिन्दी ने ज्यों का त्यों अपना लिया है इसलिए इस अग्रसरीभूत अपभ्रंश को हिन्दी के आदिकाल के साथ देखना चाहिए। चूंकि इसका समय दसवीं से चौदहवीं शताब्दी तक है इसलिए हिन्दी साहित्य का विकास भी उसी समय से मानना चाहिए, "यही कारण है कि हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखक दसवीं शताब्दी से इस साहित्य का आरम्भ स्वीकार करते है। इसी समय से हिन्दी भाषा का आदिकाल माना जा सकता है।"[2] परिनिष्ठित

१. आ० रामचन्द्र शुक्ल—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ७
२. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी—हिन्दी साहित्य, पृ० ४८

अपभ्रंश और अप्रसरीभूत (एडवांस्ड अपभ्रंश) का स्वरूप, दोनों में अंतर और दोनों की प्रवृत्तियों की चर्चा अपभ्रंश के अंतर्गत की जा चुकी है, अतः इस विषय पर यहाँ अधिक चर्चा न कर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के कथन का सारांश प्रस्तुत किया जाता है :

१. हेमचन्द्र ने दो प्रकार की अपभ्रंशों की चर्चा की है—परिनिष्ठित अपभ्रंश और ग्राम्य अपभ्रंश।

२. ग्राम्य अपभ्रंश ही एडवांस्ड अपभ्रंश है, जिसे परवर्ती अपभ्रंश, प्राकृताभास हिन्दी, पुरानी हिन्दी, अवहट्ट, अप्रसरीभूत अपभ्रंश आदि नाम दिए गए हैं।

३. यह अपभ्रंश परिनिष्ठित अपभ्रंश की अपेक्षा आगे बढ़ी हुई है (अर्थात् उसकी प्रवृत्तियाँ कुछ भिन्न हो गई हैं)।

४. इसमें दसवीं शताब्दी से काव्य-रचना होने लगी थी।

५. इसी अपभ्रंश की विशेषताओं को हिन्दी ने ज्यों का त्यों अपना लिया है। इसलिए इसके साहित्य को हिन्दी के साथ देखा जाना चाहिए।

६. अर्थात् हिन्दी साहित्य में ग्राम्य अपभ्रंश के साहित्य को भी लिया जाना चाहिए।

७ दसवीं शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी तक का साहित्य एक प्रकार से परिनिष्ठित अपभ्रंश का ही बढ़ाव है, लेकिन उससे दूर और हिन्दी के अधिक निकट है।

८. इसलिए हिन्दी का विकास दसवीं शताब्दी से ही मानना चाहिए और आदिकाल का समय १०००-१४०० ई० मानना चाहिए।

इस प्रकार आज शुक्लजी और द्विवेदीजी के द्वारा बताए गए समय, दसवीं शताब्दी से ही आदिकाल की शुरुआत मानी जाती है। इसी आधार पर हिन्दी साहित्य का अध्ययन-अध्यापन होता है। हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग द्वारा सोलह भागों में हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखा जा रहा है, उसका आधार भी उपर्युक्त मान्यता है।

कुछ विद्वान् इसका विरोध करते हैं। वे हिन्दी के साथ अपभ्रंश के साहित्य को देखना पसन्द नहीं करते। इस संदर्भ में डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त, डॉ० देवेन्द्रकुमार जैन, श्री शिवकुमार शर्मा प्रभृति विद्वानों का नाम उल्लेखनीय है।

डॉ० देवेन्द्रकुमार जैन १४वीं शताब्दी से ही हिन्दी साहित्य के विकास को मानने के पक्षपाती हैं तो डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त बारहवीं शताब्दी के अन्त से हिन्दी का विकास मानते हैं। उनके मतानुसार इन सभी दृष्टियों से बारहवीं शती के अंतिम चरण से हिन्दी साहित्य का आविर्भाव मानना तर्कसंगत प्रतीत होता है। इससे पूर्व के समय को जिसे हिन्दी के इतिहासकार आदिकाल, वीरगाथाकाल या चारणकाल आदि में स्थान देते रहे हैं, हिन्दी की प्रारम्भिक रचनाओं की दृष्टि

से शून्य है, अतः उसे हिन्दी साहित्य की काल-सीमाओं से बाहर समझना चाहिए। वस्तुतः हिन्दी साहित्य का आरम्भ यहीं (१२वीं शती के अंतिम चरण) से होता है।"[1] निम्नलिखित आधारों पर आप हिन्दी की शुरूआत इस समय से मानते हैं :

१. भाषा-वैज्ञानिकों ने तेरहवीं शताब्दी से हिन्दी की शुरूआत मानी है :

(क) डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी—"१३वीं या १४वीं शती ई० तक हमें हिन्दी या हिन्दुस्तानी के दर्शन नहीं होते।"

(ख) डॉ० उदयनारायण तिवारी—"आचार्य हेमचन्द्र के पश्चात् १३वीं शताब्दी के प्रारम्भ में आधुनिक भारतीय भाषाओं के अभ्युदय के समय १५वीं शती से पूर्व तक का काल था जिसमें भारतीय आर्य-भाषा धीरे-धीरे अपभ्रंश की स्थिति को छोड़कर आधुनिक काल की विशेषताओं से युक्त हो रही थी।"

२. साहित्य के समीक्षक भी तेरहवीं शती के अंत से हिन्दी की शुरूआत मानते हैं :

(क) डॉ० नामवरसिंह—तेरहवीं शताब्दी तक आते-आते अपभ्रंश के सहारे ही पूर्व और पश्चिम के देशों ने अपनी-अपनी बोलियों का स्वतन्त्र रूप प्रकट किया था।

(ख) आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी—हेमचन्द्र की ग्राम्य भाषा ही आगे चलकर हिन्दी में परिणत हुई, जिसका समय तेरहवीं शताब्दी से पहले नहीं माना जा सकता।

यह सच है कि हिन्दी साहित्य का वास्तविक विकास चौदहवीं शताब्दी से ही शुरू हुआ, जब भक्त-कवियों की पीयूषमयी वाणी समस्त जन-मन में हिलोरें लेने लगी थी। हिन्दी साहित्य के मूर्धन्य इतिहासकार (शुक्लजी, द्विवेदीजी) भी भक्तिकाल से ही हिन्दी साहित्य की वास्तविक सत्ता मानते हैं। किन्तु भक्ति-काल (१४वीं शती) से हिन्दी साहित्य का विकास मानना अनुचित है। इससे बहुत पहले लगभग दसवीं शताब्दी से ही भाषा-परिवर्तन के संकेत मिलने लगे थे। सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर पता चलता है कि दसवीं शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी तक का साहित्य पूरी तरह न अपभ्रंश में है, न हिन्दी में। भाषा का यह संक्रान्तिकालीन रूप ही आदिकाल के आविर्भाव का नियामक हो सकता है; क्योंकि भक्तिकाल से हिन्दी साहित्य का आविर्भाव मानने में कुछ बाधाएँ हैं।

भक्तिकाल से हिन्दी साहित्य का विकास नहीं माना जा सकता

भक्तिकाल से हमारे साहित्य का आविर्भाव मानने पर यह स्पष्ट करना

1. डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० ११०

कठिन हो जाएगा कि भक्ति की अवतारणा यकायक कैसी हुई? इसी प्रकार सूफी कवियों और तुलसी द्वारा अपनायी गई चरितकाव्य की पद्धति हिन्दी में प्रारम्भ से ही कैसे आ गई, इसका भी कोई उत्तर हमारे पास नहीं होगा। भक्तिकालीन कवियों द्वारा अपनायी गई काव्य-रूढ़ियों, परम्पराओं का उत्स भी अज्ञात रहेगा। साहित्य की भाषा में भी अपभ्रंश की प्रवृत्ति से भिन्न संस्कृत के तत्सम शब्दों को अपनाए जाने की प्रवृत्ति कैसे विकसित हुई इसका भी कोई जवाब हमारे पास न रहेगा। काव्य-रूपों की दृष्टि से तुलसी और कबीर का साहित्य वैविध्यपूर्ण है। उनके द्वारा अपनाए गए दोहा-चौपाई वाले चरित-काव्य; कवित्त-सवैया-दोहों में धर्म और नीति के उपदेश; बरवै, सोहर आदि छंद; लीला-विनय के पद, मंगलकाव्य, चर्चरी काव्य आदि काव्यरूप प्रारम्भ से ही हिन्दी में कैसे विकसित हुए अर्थात् भक्तिकाल का साहित्य हर दृष्टि से समृद्ध साहित्य है। उसकी समृद्धता के कारण शुक्लजी ने उसे 'हिन्दी साहित्य का स्वर्णकाल' तक कहा है।

इसलिए भक्तिकाल से हिन्दी की शुरुआत नहीं मानी जा सकती। किसी भी भाषा का साहित्य क्रमशः समृद्धता को प्राप्त करता है, प्रारम्भ से ही समृद्ध होकर नहीं पनपता है। जब तक प्रारम्भिक प्रयास नहीं होंगे, प्रौढ़ता कैसे आएगी? कई कवियों के लम्बे प्रयासों के बाद किसी भाषा के साहित्य में गाम्भीर्य, औदात्य और विस्तार आता है। उसके प्रारम्भिक साहित्य में इनका सर्वथा अभाव होता है। भक्तिकाल के साहित्य में जो भक्ति, प्रेम और दर्शन की सूक्ष्मतम विवेचना, काव्यतत्त्व का सुन्दर निरूपण, शिल्प-वैशिष्ट्य, भाषा की श्रेष्ठता आदि दिखाई पड़ती है, वह कदापि साहित्य के क्षेत्र में किये गए प्रारम्भिक प्रयास नहीं कहे जा सकते। भक्तिकालीन साहित्य की प्रत्येक प्रवृत्ति की एक सुनिश्चित पृष्ठभूमि पहले ही तैयार हो गई थी जिसके पोषण से उस साहित्य का विकास हुआ। जब तक उसे हम नहीं जान लेंगे हम भक्तिकाल के साथ न्याय नहीं कर पायेंगे। वह साहित्य है संक्रान्तिकाल का साहित्य। यही साहित्य हिन्दी का प्रारम्भिक साहित्य है। राहुलजी ने आदिकालीन साहित्य को छोड़ देने पर होने वाली हानि का संकेत करते हुए कहा है—"अपभ्रंश के कवियों को विस्मरण करना हमारे लिए हानि की वस्तु है। यही कवि हिन्दी काव्यधारा के प्रथम स्रष्टा थे। × × × उन्हें छोड़ देने से बीच के काल में हमारी बहुत हानि हुई है और आज भी उसकी सम्भावना है।"[1] एक बार आदिकाल के अस्तित्व को स्वीकार कर लेने पर हमारे सामने उसके आविर्भाव का निर्धारण करने में कोई दिक्कत खड़ी नहीं होगी क्योंकि निश्चित रूप से यह साहित्य दसवीं शताब्दी

---

१. राहुल सांकृत्यायन—हिन्दी काव्यधारा, पृ० १२-१३

से उभरकर सामने आया है। इसलिए हिन्दी साहित्य का आदिकाल दसवीं शताब्दी से ही मानना चाहिए। एक बार फिर द्विवेदीजी के शब्दों में कहा जा सकता है कि "यही कारण है कि हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखक दसवीं शताब्दी से इस साहित्य का आरम्भ स्वीकार करते है। इसी समय से हिन्दी भाषा का आदिकाल माना जा सकता है।"[1]

आदिकाल की साहित्य-सामग्री

आदिकालीन साहित्य-सामग्री के निर्धारण का प्रश्न भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। इसका मुख्य कारण इस काल के साहित्य का वैविध्य है। इस समय का साहित्य धर्म, वीरत्व, शृंगार, मनोरंजन आदि अनेक प्रवृत्तियों को धारण करने वाला है। किसी एक केन्द्रीय प्रवृत्ति के न मिलने के कारण आदिकाल की साहित्य-सामग्री को लेकर बहुत खींचतान हुई है। शुक्लजी के इतिहास से लेकर आज तक एतत् सम्बन्ध में अनेक विचार प्रकट किये गए। इस विवाद का कारण शुक्लजी की वह धारणा है जिसके कारण उन्होंने इस काल की कई पुस्तकों को धार्मिक उपदेशात्मकता के कारण साहित्य की कोटि से बाहर कर दिया है। इस प्रकार अवशिष्ट बारह ग्रंथों में से उन्होंने वीरत्वपूर्ण ग्रन्थों का बाहुल्य देखकर आदिकाल को वीरगाथाकाल कहा है। शुक्लजी ने अपभ्रंश के विस्तृत साहित्य में से केवल चार पुस्तकों को स्वीकार किया है तथा शेष पुस्तकें उन्होंने देश भाषा की ली हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि अपभ्रंश के साहित्य को हिन्दी के आदिकालीन साहित्य मे स्थान मिलना चाहिए अथवा नहीं। यह प्रश्न इससे पूर्व भी बार-बार देखा जा चुका है। और इस निष्कर्ष पर पहुँच चुके हैं कि परवर्ती अपभ्रंश के साहित्य को जिसकी प्रवृत्तियाँ हिन्दी के अधिक निकट हे, आदिकालीन साहित्य के अंतर्गत देखना चाहिए। इस सम्बन्ध में सुव्यवस्थित विचार डॉ० रामकुमार वर्मा ने प्रस्तुत किए हैं। इन्होंने आदिकाल के दो उपविभाग कर पहले भाग में सिद्धों, जैनों और नाथों के अपभ्रंश साहित्य को प्रस्तुत किया है। यह साहित्य 'हिन्दी की छाप लिए हुए है' अतः आदिकाल में इसे स्थान दिया गया है। भाषा की दृष्टि से यह साहित्य सन्धिस्थल का साहित्य है अतः वर्माजी ने इस साहित्य को सन्धिकाल के पृथक् उपविभाग में चर्चा की है। दूसरे भाग में डिंगल का साहित्य प्रस्तुत किया है। देशी भाषा का यह साहित्य चारण कवियों के द्वारा मुख्य रूप से लिखा गया अतः इस विभाग का शीर्षक चारणकाल रखा है। कुल मिलाकर वर्माजी ने आदिकाल के अंतर्गत अपभ्रंश के उस साहित्य को जो हिन्दी के निकट है हिन्दी मे स्थान दिया है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी

1. आ० हजारीप्रसाद द्विवेदी—हिन्दी साहित्य, पृ० ८८

लगभग इसी ढंग से अपना इतिहास प्रस्तुत किया है। आदिकालीन साहित्य के सम्बन्ध में द्विवेदीजी कुछ अधिक स्पष्टतापूर्वक बात करते हैं। आपके अनुसार "इसलिए दसवीं से चौदहवीं शताब्दी के उपलब्ध लोकभाषा साहित्य को अपभ्रंश से थोड़ी भिन्न भाषा का साहित्य कहा जा सकता है। वस्तुत: वह हिन्दी की आधुनिक बोलियों में से किसी-किसी के पूर्वरूप के रूप में ही उपलब्ध होता है। यही कारण है कि हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखक दसवीं शताब्दी से इस साहित्य का आरम्भ स्वीकार करते हैं। इसी समय से हिन्दी भाषा का आदिकाल माना जा सकता है।"[1] परवर्ती अपभ्रंश के साहित्य को स्वीकार कर लिए जाने के कारण भाषा के आधार पर इस काल की साहित्य-सामग्री को दो रूपों में विभाजित किया जा सकता है :

१. अपभ्रंश का साहित्य,
२. देश भाषा का साहित्य।

"इस काल में दो प्रकार की रचनाएँ प्राप्त हुई हैं—एक तो जैन भंडारों में सुरक्षित, और अधिकांश में जैन प्रभावापन्न परिनिष्ठित साहित्यिक अपभ्रंश की रचनाएँ हैं और दूसरी लोक-परम्परा में बहती हुई आने वाली और मूल रूप से अत्यन्त भिन्न बनी हुई लोक-भाषा की रचनाएँ।"[2]

इस विभाजन के सम्बन्ध में एक बात ध्यान रखनी पड़ेगी कि यह विभाजन भाषाओं के आधार पर है, प्रवृत्ति के आधार पर नहीं। एक ही प्रवृत्ति की रचनाएँ अपभ्रंश में भी मिलेंगी और देश भाषा में भी। इसलिए भाषा के आधार पर किया गया यह विभाजन एक प्रकार का भ्रम पैदा कर सकता है कि दोनों भाषाओं के साहित्य की प्रवृत्तियाँ पृथक्-पृथक् हैं। ऐसी बात नहीं है। यह विभाजन किसी केन्द्रीय प्रवृत्ति के अभाव में किया गया है और दोनों के साहित्य की पृथक्-पृथक् प्रवृत्तियों के होने की सूचना नहीं देता है।

अपभ्रंश भाषा का साहित्य

इसके अंतर्गत जैनों और बौद्धों की रचनाएँ आती हैं। जैन साहित्य अपेक्षाकृत अधिक समृद्ध और सुरक्षित रहा है। साहित्य की सुरक्षा के तीन कारण हैं—धर्माश्रय, राज्याश्रय और लोकाश्रय[3]। जैन साहित्य धर्माश्रित रहकर सुरक्षित रहा है। जैन भंडारों ने अपने साहित्य को सुरक्षित रखकर अमूल्य सेवा की है। इस साहित्य में तीर्थंकरों, जैन साधुओं, इतर विषयों से सम्बन्धित अनेक

---

१. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी—हिन्दी साहित्य, पृ० ४३-४४
२. वही, पृ० ४४
३. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी—हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ० २६

प्रबन्ध-काव्य प्राप्त होते हैं। यद्यपि काव्य का सृजन इनका स्वतंत्र उद्देश्य नहीं रहा है वलिक काव्य के माध्यम से अपने सम्प्रदाय के धार्मिक उपदेश ही इन्होंने दिए हैं तथापि इस साहित्य का साहित्यिक महत्त्व भी है। जैनों के साहित्य को शुक्लजी ने हिन्दी साहित्य में स्थान नहीं दिया है। किन्तु कतिपय कारणों से इस साहित्य को अब स्वीकार कर लिया है। वे कारण इस प्रकार हैं :

१. यह साहित्य सर्वाधिक प्रामाणिक सामग्री प्रस्तुतः करता है। आदिकाल की देश भाषा में रचित साहित्य पर यह आरोप लगाया गया है कि यह बहुत अधिक प्रामाणिक सामग्री प्रस्तुतः नहीं करता। उनमें से अधिकांश कृतियाँ संदिग्ध हैं। उनकी समता में जैन साहित्य ठोस सामग्री प्रस्तुत करता है जिसकी सहायता से आदिकाल का स्वरूप सुगमता से निर्धारित किया जा सकता है।

२. आचार्य द्विवेदी का कथन है कि "इस काल के साहित्य रूप के अध्ययन के लिए प्रत्येक श्रेणी की पुस्तक का कुछ-न-कुछ उपयोग है। पुस्तक चाहे धर्मोपदेश की हो, वैद्यक की हो, महात्म्य की हो, वह कुछ-न-कुछ साहित्य-रूप को स्पष्ट करने में अवश्य सहायता पहुँचाएगी। इस काल में साहित्यिक क्षेत्र को यथासम्भव व्यापक करके देखना चाहिए।" इसमें कोई सन्देह नहीं कि जैन साहित्य इस दृष्टि से विशिष्ट महत्त्व रखता है।

३. जैन साहित्य को आदिकाल में सम्मिलित किए जाने का एक कारण काव्य-रूप भी हैं। इस साहित्य में अपनाए गए काव्यरूप परवर्ती हिन्दी साहित्य में भी अपनाए गए हैं। आदिकाल के काव्यरूपों के निर्धारण में इस साहित्य का विशेष महत्त्व है।

जैन साहित्य के अलावा अपभ्रंश में बौद्धों का साहित्य भी उपलब्ध होता है। सिद्धों और नाथों के द्वारा दिया गया यह साहित्य भी आदिकाल के साहित्य में विशेष महत्त्व रखता है। सिद्धों ने सहज साधना का प्रचार किया। इनके साहित्य में भी साम्प्रदायिक विचार ही मुख्य रूप से प्रस्तुत किये गए हैं। इनका दर्शन पक्ष अधिक सबल है। साम्प्रदायिकता के कारण ही शुक्लजी ने इसके ग्रन्थों को भी साहित्य से बाहर कर दिया। किन्तु इसकी प्रामाणिकता, लोकरुचि, भाषा, प्रतीकात्मकता के कारण इसे भी अब साहित्य का दर्जा दे दिया गया है। सिद्ध साहित्य परवर्ती नाथ और सन्त साहित्य के विकास की परिचायक एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है। सन्तों की खण्डन-मण्डन की प्रवृत्ति, उपदेशात्मकता, लोक-रुचि आदि का मूल सिद्ध साहित्य है। सिद्धों का साहित्य मुख्यतः दोहों एवं चर्या-पदों में प्राप्त होता है। इनके द्वारा अपनाए गए काव्य-रूप भी परवर्ती साहित्य में यथावत् अपना लिये गए है।

नाथ साहित्य भी अपभ्रंश में है। प्रारम्भ में इस साहित्य की भी उपेक्षा की गई। किन्तु इसका महत्व भी इसे आदिकाल में स्थान दिलाने में समर्थ रहा है।

नाथ साहित्य सिद्धों और सन्तों के मध्य की कड़ी है। कबीर आदि सन्तों को नाथों का ही अनुकर्त्ता मानना चाहिए। नाथों की भाषा, शैली और वर्ण्य-विषय ज्यों-के-त्यों सन्तों में चले आए हैं। नव नाथों में से गोरखनाथ का साहित्य ही सर्वाधिक मात्रा में उपलब्ध होता है। इसको धार्मिक कहकर हटा देना हिन्दी वालों का स्वयं के साथ अन्याय होगा।

अपभ्रंश में जैनों और बौद्धों के साहित्य के अतिरिक्त स्फुट साहित्य भी मिलता है। इसके कवियों ने सम्प्रदायों से बाहर रहकर स्वतंत्र रूप से काव्य-सृजन किया है। विद्यापति की 'कीर्तिलता', अब्दुर्रहमान का 'सन्देसरासक' इत्यादि इसी कोटि के ग्रन्थ हैं। साहित्यिकता की दृष्टि से साम्प्रदायिक साहित्य की अपेक्षा इन ग्रन्थों का महत्त्व अधिक है।

देश भाषा का साहित्य

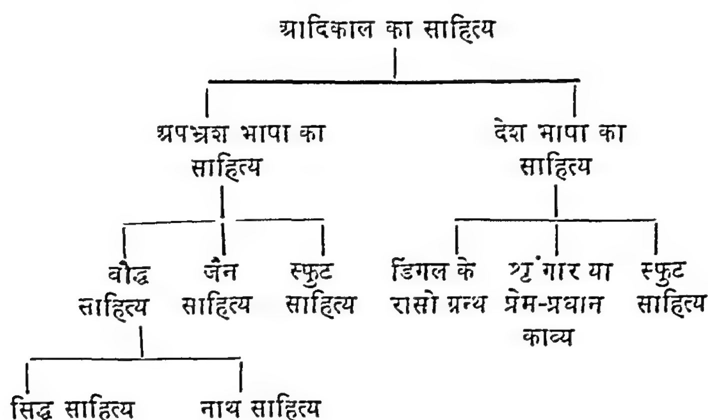
देशभाषा का साहित्य ही एक प्रकार से आदिकाल का मूल साहित्य है। इसे हम हिन्दी साहित्य के विकास की पीठिका कह सकते हैं। दसवीं से चौदहवीं शताब्दी तक प्रयुक्त इस भाषा का साहित्य बाद में भी उपलब्ध होता है। मुख्यतः यह साहित्य डिंगल में लिखा गया। उस समय की राजनैतिक घटनाओं का मुख्य केन्द्र राजस्थान था, अतः वहाँ की भाषा में ही यह साहित्य लिखा गया। आचार्य शुक्ल केवल इस भाषा के साहित्य को ही आदिकाल का साहित्य मानते हैं। इसी साहित्य की वीरता की प्रवृत्ति की प्रधानता के कारण उन्होंने इस काल का नाम वीरगाथाकाल रखा है। यह बात डिंगल साहित्य के महत्त्व को प्रकट करने के लिए पर्याप्त है। वीररस की प्रधानता, युद्धों का सजीव वर्णन, ओज-बहुलता आदि इस साहित्य की मुख्य विशेषताएँ हैं। किन्तु इस साहित्य का एक दोष यह है कि इसके कवियों ने इतिहास की उपेक्षा की है जिससे यह साहित्य विशेष प्रामाणिक नहीं रह गया है। इसमें मुख्य रूप से चरित्र-प्रधान प्रबन्ध-काव्य लिखे गए जिन्हें 'रासो' के नाम से पुकारा गया है।

देश भाषा में वीररस-प्रधान साहित्य के अलावा शृंगारिक रचनाएँ भी लिखी गई हैं। 'बीसलदेव रासो', 'विद्यापति की पदावली' इत्यादि ऐसी ही रचनाएँ हैं जिनमें सीधी-सादी भाषा में प्रेम-प्रधान गीतों को प्रस्तुत किया गया है। रीतिकालीन शृंगारिक साहित्य का उत्स इस साहित्य में खोजा जा सकता है। शृंगार के संयोग और वियोग दोनों पक्षों का उद्घाटन इसमें हुआ है। बारहमासा वर्णन, नख-शिखनिरूपण, नायक-नायिका-भेद इत्यादि परम्परागत शृंगारिक प्रणालियों का पालन भी इस साहित्य में हुआ है।

विशुद्ध मनोरंजनात्मक साहित्य भी देश भाषा में लिखा गया है। इसके अंतर्गत अमीर खुसरो की मुकरियाँ, पहेलियाँ इत्यादि आती हैं। खड़ी बोली

के विकास को जानने के लिए इस साहित्य को देखना अनिवार्य है।

आदिकाल की साहित्य-सामग्री को संक्षेप में इस प्रकार देखा जा सकता है :



आदिकालीन हिन्दी साहित्य की प्राणधारा का स्वरूप

हिन्दी मे अपभ्रंश साहित्य की कौन-सी प्रवृत्ति प्राणधारा के रूप में विकसित हुई इसे जान लेना आवश्यक है। भाषा-विकास के विविध सोपानों के आधार पर अपभ्रंश के बाद हिन्दी का विकास दिखाया जाना सहज है। इसलिए अपभ्रंश के पश्चात् हिन्दी का विकास हुआ, केवल यह जान लेना अपर्याप्त है। साहित्य के इतिहास मे यह जानना जरूरी होता है कि जो धारा अपनी स्फूर्ति और चेतना से साहित्य को जीवन्तता प्रदान करती है उसका स्वरूप क्या है? भाषा का विकास जैविक वंशानुक्रम की तरह प्रकट किया जा सकता है। पर साहित्य की व्याख्या उसमे व्याप्त सदैव चैतन्य अन्तःसलिला की खोज पर निर्भर करती है।

साहित्य का इतिहासकार स्रष्टा और द्रष्टा दोनों होता है। घटित घटनाओं का आलेख तैयार करना इतिहासकार का कार्य है। वहाँ मानवीय अनुभूतियों को स्थान कहाँ? पर साहित्य सदैव मानवीय अनुभूतियों, संवेदनाओं का मूर्तिमन्त रूप होता है। साहित्य का इतिहासकार दो युगों के विभाजन को राजनैतिक घटनाओं पर आधारित नहीं करता बल्कि साहित्यधारा के युग-सापेक्ष्य मोड़ों के आधार पर करता है। वह केवल द्रष्टा ही नहीं अपनी कला का स्रष्टा भी होता है। उसका सृजन स्वयं की विवेचना-शक्ति और कृतियों के आस्वादन पर आधारित होता है। आदिकाल के इतिहास-लेखकों ने अपभ्रंश और हिन्दी

के साहित्यिक सम्बन्ध को विविध ढंग से प्रस्तुत किया है। इसका कारण उनका मत-वैभिन्न्य है। इसलिए प्रथम उसमें से प्रमुख को जान लेना जरूरी है।

शुक्लजी साहित्य के इतिहास को जनता की बदलती हुई चित्तवृत्तियों का इतिहास बतलाते हैं। किन्तु उनके विचारों में अन्तर्विरोध तब उभर आता है जब वे कुछ कृतियों का मूल्यांकन सामान्य जनता की चित्तवृत्तियों के आधार पर करते हैं तो अन्य कृतियों का मूल्यांकन वे शिष्ट या शिक्षित समाज की चित्तवृत्तियों के आधार पर करते हैं। यह सर्वविदित है कि सामान्य जनता की चित्तवृत्तियों की अपेक्षा शिक्षित जनता की चित्तवृत्तियाँ परिष्कृत होती हैं। उसमें सामान्य जनता की चित्तवृत्तियों का छिछोरापन नहीं दिखाई पड़ता। इस लिए दोनों की चित्तवृत्तियों की एकरूपता के अभाव में दोनों को एक साथ नहीं देखा जा सकता। शुक्लजी ने हिन्दी के प्राचीन साहित्य में से नाथों, सिद्धों और सन्तों के साहित्य का सम्बन्ध सामान्य जनता की चित्तवृत्तियों से जोड़ा है तो भक्तिकाल के नूतन विकास को शिक्षित जनता की चित्तवृत्तियों का प्रतिफल बतलाया है। स्पष्ट है सिद्धों-नाथों का साहित्य शुक्लजी की इसी मान्यता के कारण उनके इतिहास में स्थान प्राप्त करने में असमर्थ रहा है। जैन साहित्य के प्रति भी उनकी धारणा शिक्षितों के साथ जोड़ने की प्रतीत नहीं होती। इस प्रकार इस समस्त सामग्री को छोड़कर वे वीरगाथा सम्बन्धी साहित्य को स्थापित करने की चेष्टा करते हैं। अर्थात् आदिकाल की समस्त धार्मिक कृतियों को वे नकार कर चलते हैं। परवर्ती इतिहास-लेखकों ने, विशेषतः द्विवेदीजी ने धर्म को साहित्य के मार्ग की बाधा नहीं माना है। फिर भी यदि शुक्लजी के मत को ही ध्यान में रखा जाय तो आदिकाल की मुख्य प्रवृत्ति वीरत्व की भावना ही ठहरती है। इसका यह अर्थ हुआ कि अपभ्रंश साहित्य से आदिकाल को वीरता की प्रवृत्ति ही प्रमुख प्रवृत्ति के रूप में प्राप्त हुई। लेकिन अपभ्रंश साहित्य में इसके विशेष दर्शन नहीं होते। दूसरी ओर आदिकाल में वीरता की जो प्रवृत्ति प्रधान थी वह काल-समाप्ति के साथ यकायक समाप्त कैसे हो गई ? वह आदि-काल से आगे भी भक्तिकाल में क्यों नहीं पनप सकी ? शुक्लजी द्वारा गिनाई गई आदिकाल की सामग्री में से किसी में भक्ति की प्रवृत्ति के दर्शन नहीं होते। इसलिए भक्तिकाल के उदय के साथ वीरता की प्रवृत्ति का स्थान यकायक भक्ति की प्रवृत्ति ने कैसे ले लिया ? इन प्रश्नों के समाधान के लिए शुक्लजी ने भक्ति के विकास का एक सूत्र बताया है। उनके अनुसार भक्तिकाल के शुरू होते-होते हिन्दुओं की विदेशियों के हाथों पराजय हो चुकी थी और देश में पूरी तरह विदेशी शासन की स्थापना हो चुकी थी। इसलिए "देश में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर हिन्दू जनता के हृदय में गौरव, गर्व और उत्साह के लिए अवकाश न रह गया था। × × × अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान

की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था ?"[1] इस प्रकार शुक्लजी ने भक्ति के विकास का सम्बन्ध राजनीति से जोड़कर वीरता के स्थान पर भक्ति की प्रवृत्ति के विकास को प्रमाणित करने का प्रयास किया है। किन्तु जैसा कि कहा गया है—

"उम्र तो यूं ही गुजारी इश्के बुतां में मोमिन
आखिरी वक्त क्या खाक मुसल्मां होंगे ॥"

जिन वीरों ने अब तक अपनी भुजाओं में करवाल और धनुष-बाण धारण किये थे वे अब खड़ताल कैसे धारण कर सकते थे। जिनका समस्त जीवन युद्ध-क्षेत्र में उत्साह-प्रदर्शन में व्यतीत हुआ वे राम-नाम के सहारे निराश जीवन कैसे व्यतीत कर सकते थे। भक्तिकाल के साहित्य और तत्कालीन वातावरण को देखने पर शुक्लजी की मान्यता के ठीक विपरीत परिणाम निकलते हैं।

१. जो कवि मुसलमानों से पराजित होकर ईश्वर की शरण में गये थे, उनमें से किसी ने भी उनकी दयनीय स्थिति के मूल कारण मुसलमानों की भर्त्सना नहीं की है।

२. सूफी कवि तो विजेता जाति से सम्बन्धित थे। उनमें भक्ति-भावना के विकास का क्या कारण था यह इस तर्क से प्रमाणित नहीं होता।

३. भक्तिकाल के किसी कवि में उस निराशा के दर्शन नहीं होते जिसकी चर्चा शुक्लजी ने की है। इसके विपरीत उनके साहित्य में अत्यंत व्यापक उदारता और सहिष्णुता के दर्शन होते हैं। उनमें निराशा कहां ?

४. मुसलमानों के आक्रमण उत्तरी भारत में हो रहे थे और भक्ति का विकास पहले दक्षिण में हुआ। 'भक्ति द्राविड़ ऊपजी लाए रामानन्द' के अनुसार भक्ति का विकास उत्तर भारत की अपेक्षा दक्षिण में पहले हुआ। इसलिए निराशा की बात उचित नहीं है।

अस्तु ! आज कोई इस बात को मानने के लिए तैयार नहीं है कि भक्ति-काल में भक्ति के उदय का कारण हिन्दुओं का मुसलमानों से पराजित हो जाना है। द्विवेदीजी के अनुसार यदि इस्लाम इस देश में नहीं आता तो भी भक्ति-साहित्य का विकास इस देश में उसी भांति उभरकर आता जैसे वह उभरकर आया है—"मैं इस्लाम के महत्व को नहीं भूल रहा हूँ लेकिन जोर देकर कहना चाहता हूँ कि अगर इस्लाम नहीं आया होता तो भी इस साहित्य का बाहर आना वैसा ही होता जैसा आज है"[2]

इस विवेचन का उद्देश्य मूलतः निम्नलिखित दो बातें स्पष्ट करना है—

---

१. आ० रामचन्द्र शुक्ल—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ६३
२. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी—हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० १

१. शुक्लजी ने आदिकाल की प्रधान प्रवृत्ति वीरता की बतलाई है, वह समस्त साहित्य को देखने पर प्रधान प्रवृत्ति नहीं ठहरती। न अपभ्रंश से वह प्रवृत्ति हिन्दी को मिली है।

२. भक्ति के विकास का कारण हिन्दुओं की पराजित मनोवृत्ति नहीं है।

एक और तर्क शुक्लजी की मान्यता के विरुद्ध प्रकट किया जा सकता है जो उनके द्वारा गिनाई गई पुस्तकों के विश्लेषण से प्राप्त होता है। वीरगाथाकाल की विवेचना करते समय जो बारह पुस्तकें उन्होंने गिनाई हैं उनमें से रासो आदि की प्रामाणिकता पर उन्हें भी भरोसा नहीं है। इसलिए जो साहित्य स्वयं अप्रामाणिक है क्या वह साहित्य के काल विशेष की प्रवृत्ति का निर्धारण करने में विश्वसनीय सामग्री बन सकता है? मैं समझता हूँ एक साधारण बुद्धि वाला व्यक्ति भी ऐसी गलती नहीं करेगा। इसलिए हमें आदिकाल की उचित पृष्ठभूमि को जानने के लिए पहले उन रचनाओं की खोज करनी पड़ेगी जो सच्ची हों और जिनकी प्रामाणिकता पर किसी को सन्देह न हो। नहीं तो अप्रामाणिक रचनाओं के मोहजाल में फँसकर हम उन उलझनों से मुक्त नहीं हो पाएँगे। डॉ० नामवरसिंह के शब्दों में—"विचित्र स्थिति है, जो रचनाएँ साहित्यिक हैं, वे संदिग्ध हैं औ जो असंदिग्ध हैं वे असाहित्यिक हैं। साहित्यिकता और असंदिग्धता के विरोध में इतिहासकार को असंदिग्धता का ही पक्ष लेना पड़ेगा; क्योंकि विचार से तथ्य प्रबल होता है। किसी रचना की साहित्यिकता एक दृष्टिकोण है और इस बात पर मतभेद हो सकता है। लेकिन किसी रचना की असंदिग्धता एक स्थापित तथ्य और उसे झख मारकर स्वीकार करना पड़ेगा।"[१]

इसलिए एक तीसरी बात उपर्युक्त निष्कर्षों में जोड़ी जा सकती है और वह यह कि आदिकाल की प्रवृत्ति का निर्धारण करने के लिए केवल शुक्लजी द्वारा गिनाई गई सामग्री पर ही निर्भर नहीं किया जा सकता और उससे आगे सिद्धों-नाथों-जैनों के धार्मिक साहित्य को भी स्वीकार करना पड़ेगा क्योंकि "धार्मिक प्रेरणा या आध्यात्मिक उपदेश होना काव्यत्व का बाधक नहीं समझा जाना चाहिए।"[२]

एक बार जब धार्मिकता का अवरोध साहित्य पर से हट जाएगा तो सारी स्थिति स्पष्ट हो जायगी। फिर आदिकाल की प्रधान प्रवृत्ति धार्मिक भावना ही ठहरती है जिसका सम्बन्ध पूर्ववर्ती और परवर्ती साहित्य से सरलता से स्थापित किया जा सकता है। आदिकाल के पूर्ववर्ती अपभ्रंश के साहित्य में भी धार्मिक प्रेरणा ही साहित्य की मूल भावना ठहरती है। उसी का विकास आदिकाल में

---

१. डॉ० नामवरसिंह—हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, पृ० २६६
२. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी—हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ० ११

दिखाई पड़ता है, यद्यपि सामयिक परिस्थितियों के कारण ऐसा साहित्य वीर-गाथात्मक साहित्य से दबा हुआ प्रतीत होता है पर इसका अस्तित्व अवश्य बना रहता है। भक्तिकाल में जाकर यही प्रवृत्ति अधिक व्यापक रूप में विस्तृत हो-कर समस्त साहित्य पर छा जाती है। यह धार्मिक भावना हिन्दुओं की पराजित मनोवृत्ति का प्रतिफल न होकर सुदीर्घकाल से चली आ रही परम्परा का एक सुनिश्चित परिणाम है। यही भावना अपभ्रंश के, आदिकाल के और भक्तिकाल के समस्त साहित्य को एक सूत्र में पिरोकर उनमें परस्पर सामंजस्य स्थापित करती है। इसको नकारना समस्त प्राचीन साहित्य को अव्यवस्थित करना और अंतर्विरोधों से युक्त करना है।

४

जैन-साहित्य : आदिकालीन अपभ्रंश साहित्य

जैन धर्म का अभ्युदय और विकास

बौद्ध धर्म के समान जैन धर्म भी अत्यन्त प्राचीन धर्म है। लेकिन बौद्ध धर्म के भारत से नेस्तनाबूद हो जाने के बाद भी आज तक जैन धर्म अस्तित्व में है। इसके सबसे बड़े प्रचारक भगवान महावीर गौतम बुद्ध के समकालीन थे। जैन श्रुतियों के अनुसार महावीर से पूर्व भी २३ तीर्थंकर हो चुके हैं। इस प्रकार महावीर को मिलाकर इस धर्म के कुल चौबीस तीर्थंकर माने जाते हैं जिनके नाम इस प्रकार हैं :

१. ऋषभदेव, २. अजितनाथ, ३. संभवनाथ, ४. अभिनन्दननाथ, ५. सुमतिनाथ, ६. पद्मनाथ, ७. सुपार्श्वनाथ, ८. चन्द्रप्रभु, ९. पुष्पदन्त, १०. शीतलनाथ, ११. श्रेयांसनाथ, १२. वासुपूज्य, १३. विमलनाथ, १४. अनन्तनाथ, १५. धर्मनाथ, १६. शान्तिनाथ, १७. कुन्थुनाथ, १८. अरनाथ, १९. मल्लिनाथ, २०. मुनिसुव्रतनाथ, २१. नमिनाथ, २२. नेमिनाथ, २३. पार्श्वनाथ, २४. वर्द्धमान महावीर।

तीर्थंकरों की यह २४ की संख्या संभवतः परम्परानुगत है। वैष्णवों में ईश्वर के २४ अवतार माने गए हैं। बौद्धों में भी ऐसा ही विश्वास पाया जाता है। इसकी पुष्टि इस बात से भी हो जाती है कि कुछ तीर्थंकरों को छोड़कर पूरे चौबीस तीर्थंकारों की सूचना हमें सिर्फ जैन साहित्य में ही मिलती है अन्यत्र सभी का उल्लेख नहीं मिलता।

सभी तीर्थंकरों के बारे में किसी प्रकार की ऐतिहासिक जानकारी नहीं मिलती। ऋषभदेव के राजा होने का उल्लेख मिलता है जिन्होंने पुत्र के लिए राज्य त्यागकर संन्यास ग्रहण किया था। अन्यों में से महावीर के अलावा तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के बारे में भी थोड़ी जानकारी मिलती है। ये इक्ष्वाकुवंशी बनारस के राजा थे। इन्होंने बनारस में ही ८३½ दिनों का उपवास कर वैराग्य लिया और ८३ दिनों के गहन चिन्तन के बाद इन्हें कैवल्य मिला। इन्होंने चार सूत्र प्रस्तुत किए—१. अहिंसा, २. सत्य, ३. अस्तेय, ४. अपरिग्रह।

भगवान महावीर कुण्डग्राम (वैशाली) के निवासी ज्ञातृकुल के राजा सिद्धार्थ के पुत्र थे। इनकी माता त्रिशला वैशाली के प्रसिद्ध लिच्छवी राजा चेटक की बहन थी। वस्तुतः महावीर ने ही जैन धर्म को एक सुव्यवस्थित रूप प्रदान किया। तीस वर्षों तक ये गृहस्थ में रहे। फिर संन्यास लेकर एक वर्ष तक वस्त्र धारण किए रहे। फिर शरीर से समस्त वस्त्रों का त्याग कर निर्ग्रन्थ (निगण्ठ= वन्धनों से रहित) हो गए। इस प्रकार तपस्या कर इन्होंने ज्ञान प्राप्त किया और जीवन के शेष तीस वर्षों तक ये निरन्तर विचरण करते हुए (वर्षा ऋतु को छोड़कर) धर्म-प्रचार करते रहे। प्रारम्भ में इनको निवस्त्र देखकर इन्हें पीड़ित किया जाता किन्तु इनकी क्षमा और शान्त स्वभाव से क्रमशः लोग अभीभूत हुए और इनके धर्म को ग्रहण करने लगे। शीघ्र ही अनेक राजाओं ने भी इनके धर्म को ग्रहण किया। ईसापूर्व ५४६ के लगभग पावापुरी में इनका निर्वाण हुआ।

महावीर के वाद जैन धर्म

इनके उपदेशों को प्रधान दो शिष्यों—इन्द्रभूति और सुधर्मा ने व्यवस्थित ढंग से संकलित किया। उसे द्वादशाङ्गी कहा गया क्योंकि इन्होंने महावीर की समस्त वाणी को वारह अंगों में विभक्त कर प्रस्तुत किया। महावीर की मृत्यु के लगभग दो शताब्दी वाद जव मगध में चन्द्रगुप्त मौर्य का शासन था, एक वारह वर्ष लम्वा बड़ा भारी अकाल पड़ा। तब जैनों के आचार्य भद्रवाहु अकाल में विपत्तिग्रस्त और अनैतिक आचरण के भय से अनेक शिष्यों को लेकर कर्णाटक चले गए। मगध में जो जैन पीछे वच रहे उनके आचार्य स्थूलभद्र हुए। इन्होंने महावीर निर्वाण के १६० वर्ष के वाद द्वादशाचाराङ्ग के लुप्त हो जाने के भय से पाटलिपुत्र में श्रमणों की एक संगीति बुलाई। इस सगीति में भद्रवाहु और उनके शिष्यों ने जो कर्णाटक चले गए थे भाग नहीं लिया। यहाँ एक वार पुनः भगवान महावीर के उपदेशों का संकलन किया गया। द्वादशाङ्ग में से अब केवल ग्यारह अङ्ग ही संकलित हुए क्योंकि वारहवें अंग को सभी जैन लगभग भूल चुके थे। उसके कुछ अध्याय जिन्हें पर्व कहते हैं, का संकलन भी ग्यारह अगों के साथ किया गया और इसी को वारहवाँ अग कहा जाने लगा। इस संगीत के वाद मगध में वचे हुए जैनियों में और कर्णाटक गए हुए जैनियों में अन्तर आ गया था। मगध में वचे हुए जैनों ने श्वेत वस्त्र धारण करने शुरू कर दिए थे, जबकि वाहर गए हुए जैन कड़ाई से उन्हीं नियमों का पालन करते हुए नग्न रहते थे।

इस प्रकार अकाल-समाप्ति पर जब वारह वर्ष वाद वाहर गये हुए जैन वापस मगध लौटे तो दोनों के आचारों में पर्याप्त अन्तर आ चुका था। मगध के जैन श्वेत वस्त्र धारण कर चुके थे, अतः श्वेताम्बरी कहलाए और कर्णाटक से लौटे हुए दिगम्बरी कहलाए, क्योंकि वे निर्वस्त्र रहते थे। संभवतः यहीं से जैन

धर्म के दो सम्प्रदाय हो गए। क्योंकि पहली संगीति में श्वेताम्बरों ने जो ग्रन्थ निर्धारित किए थे, उनको दिगम्बरों ने स्वीकार नहीं किया अर्थात् दिगम्बरों में अंग और पूर्व स्वीकार नहीं हुए। "कहा जाता है कि ये दोनों सम्प्रदाय अन्तिम बार सन् ७९ या ८२ ईस्वी में जुदा हुए।"[1]

कुछ शताब्दियाँ व्यतीत होने पर श्वेताम्बरों के धर्मग्रन्थ भी गड़बड़ हो गए। दिगम्बरों ने तो पहले से ही अंगों—पूर्वों के लुप्त हो जाने की बात स्वीकार कर ली थी। इसलिए "महावीर निर्वाण की छठी शताब्दी में आर्य स्कंदिल के आधिपत्य में मथुरा में एक सभा की गई और फिर जो कुछ बच रहा था वह सुव्यवस्थित किया गया। इस उद्धार को 'माथुरी-वाचना' कहते हैं।"[2] लेकिन माथुरी-वाचना भी अधिक समय तक उपयोगी सिद्ध न हो सकी इसलिए पाटलिपुत्र के बाद दूसरी बड़ी संगीति (सभा) ईसा की छठी शताब्दी में गुजरात के काठियावाड़ के वल्लभी नामक ग्राम में हुई। इसकी अध्यक्षता देवाधिगणि क्षमाश्रमण ने की। इसमें एक बार फिर ग्यारहों अंगों का संकलन किया गया। वस्तुतः बारहवाँ अंग तो पहले ही लुप्त हो चुका था। आज जैन धर्म में जो ग्यारह अंग प्राप्त होते हैं उनका आधार छठी शताब्दी की वल्लभी की यही संगीति है।

जैन धार्मिक ग्रन्थों का परिचय

सम्पूर्ण जैनागम छः अंगों में विभक्त है :

१. बारह अंग (ग्यारह),
२. बारह उपांग,
३. दस प्रकीर्णक,
४. छः छेदसूत्र,
५. दो सूत्रग्रन्थ,
६. चार मूलसूत्र।

"इस प्रकार इन ४५ ग्रन्थों को सिद्धान्त-ग्रन्थ माना जाता है। पर कहीं-कहीं इन ग्रन्थों के नामों में मतभेद भी पाया जाता है। मतभेद वाले ग्रन्थों को भी सिद्धान्त-ग्रन्थ मान लिया जाय तो उनकी संख्या सब मिलाकर ५० के आस-पास होती है।"[3]

दिगम्बरों में उक्त साहित्य का सिर्फ नाम मिलता है। वस्तुतः इन नामों के ग्रन्थ इनके पास नहीं हैं। उन्होंने दूसरे ढंग से अपने साहित्य का वर्गीकरण किया है।

---

१. प्राचीन भारत की सभ्यता का इतिहास—आर. सी. दत्त (अनुवाद), पृ० ३३३
२. आ० हजारीप्रसाद द्विवेदी—हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० १५२
३. वही, पृ० १५४

१. प्रथमानुयोग—ये पुराण पुरुषों के जीवन-चरित्र और कथा-ग्रन्थ हैं। जैसे—पद्मपुराण, हरिवंशपुराण, त्रिषष्टिलक्षण महापुरुष (आदिपुराण व उत्तर पुराण)।

२. करणानुयोग—जिसमें भूगोल-खगोल का, चारों गतियों का और काल-विभाग का वर्णन हो। जैसे—त्रिलोक प्रज्ञप्ति, त्रिलोकसार, जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, सूर्यचन्द्र प्रज्ञप्ति आदि।

३. द्रव्यानुयोग—जिसमें जीव-अजीव तत्त्वों का, पाप-पुण्य का, बन्धन-मोक्ष का वर्णन हो। जैसे—समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय (कुन्दकुन्दाचार्य के), तत्त्वार्थाधिगम (उमास्वाति का) आदि।

४. चरणानुयोग—जिसमें मुनियों और श्रावकों के आचार का वर्णन हो। जैसे—वट्टकेर का मूलाचार, आशाधर का सागार अनगार धर्मामृत, समन्तभद्र का रत्नकाण्ड श्रावकाचार आदि।

इन चार अनुयोगों को वेद भी कहते हैं।[1]

जैनों का सिद्धान्तेतर साहित्य और आचार्य

वल्लभी की संगीति में देवर्धिगण ने जो सिद्धान्त-ग्रन्थों का संकलन किया था उनसे बहुत पहले से ही जैन आचार्यों के ग्रन्थ लिखने का प्रमाण पाया जाता है। साधारणतः ये ग्रन्थ प्राकृत में लिखे जाते रहे, पर संस्कृत ने भी सन् ईस्वी के बाद प्रवेश पाया। भद्रबाहु ने महावीर के निर्वाण की दूसरी शताब्दी में 'कल्पसूत्र' नामक ग्रन्थ लिखा। ईस्वी सन् के लगभग तक कुन्दकुन्द, उमास्वाति, वट्टकेर, सिद्धसेन, दिवाकर, विमलसूरि, पालिन्त आदि आचार्य हुए जो दोनों सम्प्रदायों में समान रूप से पूज्य रहे हैं। पाँचवीं शताब्दी में दार्शनिक वैयाकरण देवनन्दि हुए। सातवीं-आठवीं शताब्दियों में कुछ आचार्यों ने मीमांसक कुमारिल-भट्ट के जैन धर्म पर लगाए गए आरोपों को दूर करने का प्रयास किया। इसी समय प्रसिद्ध जैनाचार्य हरिभद्र हुए जिन्होंने ८८ के लगभग ग्रन्थ लिखे। बारहवीं शताब्दी में प्रसिद्ध जैनाचार्य हेमचन्द्र हुए। इन्होंने दर्शन, व्याकरण और काव्य—तीनों पर समान भाव से लिखा। इसी समय से जैन ग्रन्थों की टीकाओं का प्रारम्भ हुआ।

काव्य के क्षेत्र में विमलसूरि का 'पउमचरिउ' (ईस्वी सन् के प्रारम्भ में) प्राकृत में लिखा काव्य अधिक लोकप्रिय हुआ। सन् ६७५ में रविषेण ने इसी ग्रन्थ का संस्कृत में अनुवाद किया। जैन-ग्रन्थों में रामायण और महाभारत की कथा बार-बार आयी है।[2]

---

१. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी—हिंदी साहित्य की भूमिका, पृ० १७५
२. वही

जैन साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि

हिन्दी जैन साहित्य की भित्ति जैन दर्शन पर आश्रित है। इसलिए जैन साहित्यकारों ने विलास और शृङ्गार से दूर हटकर आत्म-समर्पण और उत्सर्ग की भावना का अंकन किया है।[1] जैन दर्शन के वस्तुतः दो भाग हैं—तत्त्व-चिन्तन और जीवन-शोधन। आत्मा, जगत् और ईश्वर के चिन्तन से ही तत्त्वज्ञान सम्पूर्ण नहीं हो जाता, उसके लिए जीवन-शोधन की मीमांसा भी आवश्यक है। जैन दर्शन प्रत्येक अवस्था के दो स्वरूप स्वीकार करता है—भाव और द्रव्य। अव्यक्त की अवस्था को 'भाव' कहते हैं और व्यक्त हो जाने पर उसे ही 'द्रव्य' कहा जाता है। यह दर्शन परिणामवादी भी है अर्थात् इसके अनुसार प्रत्येक वस्तु अपने एक स्वरूप को छोड़कर दूसरे स्वरूप को ग्रहण करती रहती है। संसार के बात्याचक्र में फंसकर जीव या आत्मा कैसे कर्म के बन्धन में आता है और कैसे उससे मुक्त हो जाता है इसे स्पष्ट करने वाले सात तत्त्व बतलाए गए हैं। ये ही जीवन-शोधन हैं। ये तत्त्व हैं—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष। इनमें से भी जीव और अजीव ये दो तत्त्व ही महत्त्वपूर्ण हैं। जीव चेतन द्रव्य है और अजीव अचेतन। पहला आत्मा है तो दूसरा निरात्मा।

जीव—आत्मा या चेतन को संसार की दशा में जीव कहते हैं। यह सच्चिदानन्दमय है और ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि गुणों का अक्षय भंडार है। यह अमूर्त है, कर्ता है, अपने स्थूल शरीर के समान लम्बा-चौड़ा है। अर्थात् न शरीर के बाहर व्याप्त है और न शरीर के किसी विशेष भाग में केन्द्रित है। अनादि अविद्या के कारण जीव में कर्म का प्रवेश होता है, फिर भी चैतन्य का निवास उसमें रहता है। आत्मा की शुद्धि के लिए राग-द्वेषों से उसे मुक्त करना जरूरी है। यहाँ आत्मा की तीन अवस्थाएँ मानी गई हैं—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। जिसमें अज्ञान और मोह प्रबल हो और जो अपना कल्याण न कर सके वह बहिरात्मा है। जिसका विवेक जागृत होकर राग-द्वेष से निवृत्ति होने लगे वह अन्तरात्मा है। आत्मिक शक्ति को क्षीण करने वाले कारणों के क्षीण हो जाने पर परमात्मा अवस्था का प्रादुर्भाव होता है। रत्नत्रय (सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र) के अभाव, प्रादुर्भाव और विकास के कारण आत्मिक शक्ति क्षीण होती है। सम्यक् दर्शन के न रहने पर भी जीव में सदैव ज्ञान विद्यमान रहता है; और बन्धनों से मुक्त होने पर सम्यक् ज्ञान का उदय भी जीव में होता है। जीव का कभी नाश नहीं होता क्योंकि मृत्यु पर सिर्फ शरीर समाप्त होता है, जीव नहीं।

---

१. नेमिचन्द्र जैन—हिन्दी जैन साहित्य परिशीलन, भाग १, पृ० २२

अजीव—अजीव तत्त्व जीव के समान जीवन और चेतना को धारण किए हुए नही है। अजीव पाँच प्रकार का बतलाया गया है—धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल। इनमे से काल को छोडकर शेष सभी अस्तिकाय है क्योकि सब मे अनेक प्रदेश होते है। काल मे सिर्फ एक प्रदेश होने से यह अस्तिकाय नही है।

सभी अजीव तत्त्व द्रव्य है और स्वभाव से अक्षय है। पुद्गल मे रूप, रस, स्पर्श, गन्ध होने से यह अन्यो की अपेक्षा विशिष्ट होता है। पुद्गल जीववत् अनेक रूप है। शेष चार अजीव तत्त्व एक रूप ही है। इसी भाँति सभी तत्त्वो मे केवल पुद्गल ही क्रियाशील है।

१. धर्म—यह निष्क्रिय है और न अन्यो मे ही गति उत्पन्न कर सकता है। इसकी विशिष्टता इसमे है कि यह निष्क्रिय होते हुए भी क्रियाशील जीव और पुद्गल को उनकी क्रिया मे सहायक रहता है। धर्म नित्य है और लोकाकाश मे व्यापक रूप मे रहता है। गति और परिणाम का कारण भी है।

२. अधर्म—अधर्म जीव तथा पुद्गल को विश्राम की दशा में स्थित रहने मे सहायक सिद्ध होता है। धर्म के विपरीत होने से रूप, रस, गन्ध इसमे नही है और अमूर्त स्वभाव का है। यह भी धर्म की भाति नित्य है, व्यापक है और समस्त लोकाकाश मे व्याप्त रहता है।

३. आकाश—जो जीव, धर्म, अधर्म, काल तथा पुद्गलो को अपनी-अपनी स्थिति के लिए स्थान दे, वही आकाश है। इसे ही लोकाकाश के नाम से पुकारा जाता है।

४. काल—पुद्गल तथा अन्य द्रव्यो के परिणामो का कारण 'काल' है। 'काल' का अभाव कभी नही होता। इसे ही समय कहते है। काल के अणु लोकाकाश मे फैले रहते है पर कभी दूसरे से नही मिलते। ये अदृश्य, अमूर्त, अक्रिय तथा असख्य है।

५. पुद्गल—जो संघटन-विघटन के द्वारा परिणामो को प्राप्त करे वही पुद्गल है। इसमे रूप, रस, गन्ध, स्पर्श है। यह सीमित है और एक आकृति रखता है। जीव की प्रत्येक चेष्टा पुद्गल के रूप मे प्रकट होती रहती है। इसी से पुद्गल के अनेक भेद है। कर्म के रूप मे भी पुद्गल रहते है। इन्ही कर्म पुद्गल के सम्पर्क से जीव बद्ध होता है। शब्द, बन्ध, सूक्ष्म, स्थूल, सस्थान (आकार), भेद, अंधकार, छाया, प्रकाश, आतप—सभी पुद्गल के ही परिणाम है।

आस्रव—कर्म पुद्गलो का जीव मे योग (काययोग, वाक्योग, मनोयोग) द्वारा प्रवेश करने को आस्रव कहते है। इस प्रकार आस्रव के संपर्क से जीव कर्म-बन्धन मे पडता है अत. यह बन्धन का एक कारण है। ४२ प्रकार से

कर्म-पुद्गल जीव में प्रवेश करते हैं अतः आस्रव के भी इतने ही भेद स्वीकार किये गए हैं।

बन्ध—आस्रव के सम्पर्क से जीव का वास्तविक स्वरूप नष्ट हो जाता है। इससे वह बन्धन में फँस जाता है। इस प्रकार आस्रव के सम्पर्क से जीव के बन्धन में पड़ने की प्रक्रिया ही बन्ध है।

संवर—जीव का परम लक्ष्य बन्धनों से मुक्त होकर परमानन्द को प्राप्त करना है। इसके लिए कर्म-पुद्गलों से जीव का मुक्त होना और शरीर में उनके नवीन प्रवेश को रोकना जरूरी है। कर्म पुद्गलों को इस प्रकार रोकने की प्रक्रिया को ही संवर कहते हैं। इस प्रकार जिसकी सहायता से आस्रव तथा बंध को रोका जाता है उसे संवर कहते हैं। इसके भावसंवर और द्रव्यसंवर—दो भेद होते हैं।

निर्जरा—कर्म-पुद्गलों के निरोध के बाद पूर्व-प्रविष्ट कर्म-पुद्गलों का नाश भी जरूरी है। इस नाश की प्रक्रिया को निर्जरा कहते हैं। इसके भी भावनिर्जरा और द्रव्यनिर्जरा—ये दो भेद हैं।

मोक्ष—राग-द्वेष और मोह के कारण आस्रव होता है और तभी जीव बन्धन में फँस जाता है। तपस्या और नियमों के पालन से राग-द्वेष नष्ट हो जाते हैं। फिर 'संवर' और 'निर्जरा' से 'आस्रव' का नाश होता है। इस प्रकार कर्म-पुद्गलों से मुक्त होने से जीव सर्वज्ञ-सर्वद्रष्टा होकर मुक्ति का अनुभव करने लगता है। इस अवस्था को भावमोक्ष या जीवन-मुक्ति कहा जाता है। यह अवस्था वास्तविक मोक्ष से पूर्व की अवस्था है। इस अवस्था में चार घातीय कर्म (ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, अन्तराय) नष्ट हो जाते हैं। इसके बाद चार अघातीय कर्म (आयु, नाम, गोत्र, वेदनीय) का भी नाश हो जाता है। तभी द्रव्यमोक्ष की प्राप्ति होती है।

मुक्त हो जाने पर जीव सभी कर्मों और भावों से भी मुक्त हो जाता है। अपनी स्वाभाविक गति के कारण ऊर्ध्वमुखी हो जाता है और ऊपर लोक की सीमा पर्यन्त पहुँच जाता है। मुक्त जीव परमात्मा के साथ एक नहीं हो जाता। वह 'सिद्धशिला' में अनन्तकाल तक के लिए वास करता है।

कर्मवाद—जीव को सांसारिक परिमाण शरीर से जोड़नेवाला कर्म है। कर्म सदा जीव के साथ रहता है इसीलिए उसे बार-बार जन्म लेना पड़ता है क्योंकि जीव से संयुक्त होकर कर्म उसे दूषित कर देता है। इससे जीव अपनी वास्तविक दशा से पतित होकर बन्ध की दशा में आ जाता है। कर्मफल जीव को भोगना जरूरी है। कर्म के कारण ही जीव का क्रोध, मान, माया तथा लोभ—इन चारों कषायों से सम्पर्क है। इसलिए कर्म को ही विद्वानों ने अविद्या कहा है। कर्म-पुद्गल के सहयोग से ही जीव दुःखी है और जब वह क्रमशः रत्नत्रयी के द्वारा

राग-द्वेष से मुक्त होते हुए सभी तत्त्वों के प्रति श्रद्धा-भाव रखते हुए सम्यक् चरित्र को प्राप्त करता है तो इस मार्ग से वह जन्म-मरण से मुक्ति प्राप्त कर मोक्ष को प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है।

जैन साहित्य की पारिभाषिक शब्दावली

आदिकाल के समस्त धार्मिक साहित्य में प्रत्येक सम्प्रदाय के कवियों ने कुछ विशिष्ट शब्दावली का प्रयोग किया है। यह शब्दावली उनके सम्प्रदाय से सम्बन्धित मान्यताओं के अनुरूप है। इसके पीछे उनकी साधना और धार्मिक विश्वास है। सिद्धों-नाथों में उनकी रहस्यपूर्ण हठयोगिक साधना को प्रकट करनेवाले शब्दों का बाहुल्य है। जैन साहित्य में भी ऐसी ही विशिष्ट शब्दावली का प्रयोग दिखाई देता है। पारिभाषिक शब्द उनके साहित्य में प्रचुर मात्रा में मिलते हैं जिनको जाने बिना उनके साहित्य को समझ सकना सरल नहीं है। कुछ पारिभाषिक शब्द और उनका मन्तव्य इस प्रकार है :

सिद्ध—आठ कर्मों से रहित, आठ गुणों से युक्त, परिसमाप्त-कार्य और मोक्ष में विराजमान जीव सिद्ध कहलाते हैं। (आ० कुन्दकुन्द) सिद्ध निराकार होते हैं। योगीन्दु ने उन्हें निष्फल कहा है। ये लोकाग्रशिखर के ऊपर रहते हैं। उसी को किसी ने मोक्ष, किसी ने सिद्धशिला और किसी ने सिद्धपुरी कहा है।

सिद्ध और अर्हंत—आठ कर्मों के नाश से सिद्धपद प्राप्त होता है और चार घातिया कर्मों का क्षय करने से अर्हंतपद मिलता है। प्रत्येक जीव सिद्ध बन सकता है किन्तु अर्हंतपद प्राप्त करने के लिए तीर्थंकर नाम-कर्म का उदय होना अनिवार्य है। अर्हंत सकल परमात्मा होता है, उनके शरीर होता है, वे दिखाई देते हैं। जबकि सिद्ध निराकार हैं, उनके कोई शरीर नहीं होता, उन्हें हम देख नहीं पाते। सिद्धों ने पूर्णता प्राप्त कर ली है जबकि अर्हंतों को ऐसा करना शेष है। सिद्ध अर्हंतों के लिए पूज्य हैं।[1]

चारित्र—'चरति चर्यतेऽनेन चरणमात्रं वा चारित्रम्' अर्थात् जो आचरण करता है, जिसके द्वारा आचरण किया जाय या आचरण करना मात्र चारित्र कहलाता है अर्थात् आचरण का ही दूसरा नाम चारित्र है। चरित्र अच्छा या बुरा दो प्रकार का होता है। चरित्र-भक्ति का सम्बन्ध अच्छे चरित्र से है जिसे जैन साहित्य में सम्यक् चरित्र कहते हैं।[2]

पंच परमेष्ठी—अर्हंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और लोक में सर्वसाधु पंच परमेष्ठी कहलाते हैं। "इनकी विशेषता बतलाते हुए कहा गया है कि परमेष्ठि

१. डॉ० प्रेमसागर जैन—जैन भक्तिकाव्य की भूमि, पृ० ७४
२. वही, पृ० ८५

वह है जो मल-रहित, शरीर-रहित, अनिन्द्रिय, केवलज्ञानी, परमजिन और शिव-शंकर हो।"[1] पंच-परमेष्ठी में से सिद्ध और अर्हंत की चर्चा ऊपर हो चुकी है, शेष तीन परमेष्ठियों की विशेषताएँ निम्न प्रकार हैं :

आचार्य—जो ज्ञानमय है, संयम में शुद्ध है, सुवीतरागी है और साधारण मुनियों को कर्मों का क्षय करनेवाली शुद्ध शिक्षा-दीक्षा देते हैं, वे आचार्य-परमेष्ठी जिनेन्द्रदेव के साक्षात् प्रतिबिम्ब अर्थात् सदृश हैं।[2] आचार्य की परिभाषा अन्यत्र इस प्रकार दी गई है, "जो स्वयं व्रतों का आचरण करते हैं और दूसरों से करवाते हैं, वे ही आचार्य कहलाते हैं।"

उपाध्याय—जिसके पास जाकर मोक्ष-प्राप्ति के लिए ग्रन्थों का अध्ययन किया जाता है वे ही उपाध्याय हैं। इस प्रकार उपाध्याय वस्तुतः अज्ञानरूपी अन्धकार में भटकते हुए जीवों को ज्ञानरूपी प्रकाश प्रदान करता है।[3]

साधु—जो चिरकाल से जिन-दीक्षा में प्रव्रजित हो चुका हो, उसे दृढ़तापूर्वक शीलव्रतों का पालन करना चाहिए और राग से रहित तथा विविध विनयों से युक्त होना ही चाहिए।

जैनों का प्रसिद्ध णमोकार मन्त्र भी पंच-परमेष्ठियों से ही सम्बन्धित है :

णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्व साहूणं

यह मन्त्र लौकिक और पारलौकिक शक्तियों का प्रदाता और पापों से जीव का उद्धार करनेवाला बताया गया है। इसी से सम्यक् दर्शन प्राप्त होता है जिसका मोक्ष-प्राप्ति के लिए विशेष महत्त्व बताया गया है। यह मन्त्र आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक शक्तियों का देवता माना गया है जो अपने प्रभाव से मोह को रोक देता है।

तीर्थंकर (तीर्थ) : तीर्थों को करने वाला तीर्थंकर माना गया है। 'तीर्थंकरा तीति तीर्थंकरः' और तीर्थ वह है जिसकी सहायता से यह संसाररूपी समुद्र तिरा जा सके। इसका विधान करने वाला तीर्थंकर है।

मुनि : मुनि और तीर्थंकर में अन्तर होता है। मुनि में तीर्थंकर के समान शक्ति नहीं देखी जाती। तीर्थंकर के आगे धर्मचक्र चलता है क्योंकि वह मौलिक मार्ग का सृष्टा होता है। तीर्थंकर ही समवशरण में विराजकर १४ पूर्व और १२ अंगों का उपदेश देता है। उसकी ध्वनि दिव्यध्वनि होती है। मुनि न तो समवशरण की विभूति पा सकता है और न उसकी ध्वनि दिव्यध्वनि ही

१. डॉ० प्रेमसागर जैन—जैन भक्तिकाव्य की पृष्ठभूमि, पृ० १०५
२. वही, पृ० ९२
३. वही, पृ० ९८

होती है। मुनि तीर्थंकर के बतलाए मार्ग पर चलकर ही लक्ष्य प्राप्त करता है।[1]

गणधर : महावीर के नौ प्रकार के शिष्य थे जो 'गण' कहलाते थे। इनका एक निरीक्षक होता था जिन्हे लोग गणधर कहते थे। ऐसे ग्यारह गणधर थे (इन्द्रभूति, अग्निभूति, वायुभूति, व्यक्त, सुधर्मा, मण्डिक, मौर्यपुत्र, अकम्पित, अचलभ्राता, मेतार्य तथा प्रभासा)। इनके अतिरिक्त गोशाल तथा जमालि भी महावीर के मुख्य शिष्यो मे थे।[2]

शान्ति : ससार मे असक्ति ही अशान्ति का कारण है। आसक्ति से आकुलता होती है, यही अशान्ति को जन्म देती है। कर्म कर सासारिक द्रव्यो का अर्जन व उपभोग बुरा नही है पर उनमे ही आसक्त हो जाना बुरा है। शान्ति के लिए इसे त्यागना चाहिए। शान्ति द्विविध होती है—क्षणिक और शाश्वत। सासारिक रोगादि के उपशमन से जो शान्ति होती है वह क्षणिक शान्ति होती है लेकिन शाश्वत अष्टकर्मों के विनाश से उत्पन्न होती है। मोक्ष ही शाश्वत शान्ति है। जिनेन्द्र की भक्ति से दोनो प्रकार की शान्ति प्राप्त होती है।

समाधि : विक्षेपो को छोडकर मन जहाँ एकाग्र होता है उसे ही समाधि कहते हैं। कहा भी है—"सम्यगाधीयते एकागीक्रियते विक्षेपायपरिहृत्य मनो यत्र स समाधि:।" इस प्रकार जैन धर्म मे समाधान को ही समाधि माना गया है। समाधान को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि एक आलम्ब मे चित्त एवं उसकी वृत्तियो का समान और सम्यक् आधान कर देना ही समाधि है। समाधि के दो भेद हैं—सविकल्पक और निर्विकल्पक। पहली समाधि मे मन को पंच परमेष्ठी, अरिहत और ओंकारादि मंत्र पर टिकाना होता है। निर्विकल्प मे मन को रूपातीत अर्थात् सिद्ध या शुद्ध आत्मा पर केन्द्रित करना पड़ता है। अत: सविकल्पक समाधि सालम्ब और निर्विकल्पक निरावलम्ब होती है। निर्विकल्पक मे समस्त विकल्प विलीन हो जाते है। इसमे शुभ और अशुभ सभी का त्याग करना पड़ता है।

निर्वाण : निर्वाण शब्द नि.पूर्वक 'वा' धातु से बना है जिसका अर्थ है—बुझा देना। 'निर्वाण आत्मा एक उस चिरन्तन सुख मे निमग्न हो जाती है जिसे छोड़कर फिर उसे संसार मे नही आना होता।' जैन शास्त्रो मे मोक्ष और निर्वाण को पर्याय माना गया है। समूचे कर्मों मे छुटकारा होना मोक्ष है और सब कर्मों का बुझ जाना 'निर्वाण' है।

सिद्धक्षेत्र : जहाँ से तीर्थंकर या दूसरे महात्मा निर्वाण को प्राप्त हुए है, वे सिद्धक्षेत्र कहलाते हैं।

---

१. डॉ० प्रेमसागर जैन—जैन भक्तिकाव्य की पृष्ठभूमि, पृ० १०६-१०७
२. उमेश मिश्र—भारतीय दर्शन, पृ० १०२

चैत्य : चिता पर बने स्मृति-चिह्नों को चैत्य कहते हैं। बाद में जिनेन्द्र के बिम्ब और प्रतिमा को भी चैत्य कहा जाने लगा। चैत्यालय मन्दिर की समता में छोटा होता है। मन्दिर देवोत्सव के लिए बनाए गए तो चैत्यालय महापुरुषों की समाधि पर बनाए गए। दोनों को ही जिन-सदन कहा जाता है।

उपास्यदेव : "जैनों में पंच-परमेष्ठी के अतिरिक्त अन्य देवताओं की भी पूजा-स्तुति होती रही है, ऐसा ऐतिहासिक प्रमाणों और उनके भक्तिपरक साहित्य से प्रमाणित है।"[1] इनमें यक्ष, इन्द्र, लौकान्तिक देव, सूर्य, नायगमेष, ब्रह्मदेव, नागदेव, भूत आदि देवों की पूजा प्रमुख रूप से मिलती है। इसी प्रकार पद्मावती, अम्बिका, चक्रेश्वरी, ज्वालामालिनी, सच्चियामाता, सरस्वती, कुरुकुल्ला, तीर्थंकर की माता, लक्ष्मी, विद्या, दिक्कुमारियाँ आदि देवियों की भी पूजा-स्तुति मिलती है।

जैन साहित्य की प्रवृत्तियाँ

विषय-वैविध्य : आदिकाल को सर्वाधिक साहित्यिक सामग्री प्रदान करने का श्रेय जैनों को है। इनके द्वारा प्रस्तुत ग्रन्थों की संख्या ५०० के लगभग है। मुख्यतः यह साहित्य दिगम्बरों के द्वारा प्रस्तुत किया गया। वैसे श्वेताम्बर सम्प्रदाय वालों द्वारा भी कुछ साहित्य लिखा गया है। केवल धार्मिक कहकर इन पुस्तकों की उपेक्षा नहीं की जा सकती। जैनों का सामाजिक और लोकोपकारक विषयों से सम्बन्धित साहित्य भी उपलब्ध होता है। शृंगार, वीर, शान्त, ऋतुपरक, रहस्यात्मक, योगपरक, व्याकरण, वैद्यक, इतिहास, मनोविनोद, शिक्षा आदि अनेक साहित्य और साहित्येतर विषयों से सम्बन्धित ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। रचनाकाल की दृष्टि से ये रचनाएँ ११वीं से १५वीं शताब्दी के हर चरण का प्रतिनिधित्व करती हैं। इनमें विशालकाय प्रबन्ध-काव्यों के अलावा खण्ड-काव्य और मुक्तक भी मिलते हैं। इन चरित-काव्यों के अध्ययन से परवर्ती काल के हिन्दी साहित्य के कथानकों, कथानक-रूढ़ियों, काव्यरूपों, कवि-प्रसिद्धियों, छंदो-योजना, वर्णन-शैली, वस्तु-विन्यास, कवि-कौशल आदि की कहानी बहुत स्पष्ट हो जाती है। इसीलिए इन काव्यों से हिन्दी साहित्य के विकास के अध्ययन में बहुत महत्त्वपूर्ण सहायता प्राप्त होती है।[2]

इतिहास-सम्मत रचनाएँ : इन ग्रन्थों में इतिहास की उपेक्षा नहीं की गई है बल्कि उसकी सुरक्षा का प्रयास हुआ है। राजस्थानी कवियों ने अपने आश्रय-दाताओं की अतिरंजनापूर्ण प्रशंसा करते हुए इतिहास की उपेक्षा की है। जैन

---

१. डॉ० प्रेमसागर जैन— जैन भक्तिकाव्य की पृष्ठभूमि, पृ० १०३

२. आ० हजारीप्रसाद द्विवेदी—हिन्दी साहित्य, पृ० २१

साहित्य में यह प्रवृत्ति दिखाई नहीं पड़ती। इन कवियों के साथ आश्रयदाता की रुचि एवं मर्यादा का बन्धन नहीं था। ये कवि अपने कृतित्व में पूर्ण स्वतंत्र थे और इनका लक्ष्य भी चरितनायक की प्रशंसा से इतर धर्म से सम्बन्धित था इसलिए इनके साहित्य में इतिहास की सुरक्षा हुई है। ऐतिहासिक तथ्यों में तोड़मरोड़ करने या रद्दोबदल करने की अभिलाषा इनमें नहीं दिखाई पड़ती।" जैन साहित्य द्वारा इतिहास की विशेष रक्षा हुई है। पौराणिक चरित्र के अतिरिक्त ऐतिहासिक व्यक्तियों के चरित्र भी लिखे गये हैं। हेमचन्द्र का 'कुमारपाल चरित', सोमप्रभसूरि का 'कुमारपाल प्रतिबोध', धर्मसूरि का 'जम्बूस्वामीरासा', विजयसेन सूरि का 'रेवंतगिरिरासा,' अंबदेव का 'संघपति समरा रास', मेरुतुंग का 'प्रबन्ध चिन्तामणि', विजयभद्र का 'गौतमरासा', ईश्वरसूरि का 'ललितांग चरित्र' आदि इतिहास की प्रधान घटनाओं और व्यक्तियों के सम्बन्ध में यथेष्ट प्रकाश डालते हैं। अतएव इस साहित्य का महत्त्व भाषा-विज्ञान सम्बन्धी होते हुए इतिहास-सम्बन्धी भी है।"[1]

प्रामाणिकता—आ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने साहित्य की सुरक्षा के तीन कारण बतलाए हैं—राज्याश्रय, धर्माश्रय और लोकाश्रय। जैनों ने अपने साहित्य को धर्माश्रय के सहारे सुरक्षित रखा है। "परन्तु इन जैन आचार्यों और कवियों की रचनाएँ निस्सन्देह मूल रूप में और प्रामाणिक रूप में सुरक्षित हैं। इनके अध्ययन से तत्कालीन साहित्यिक परिस्थिति पर जो भी प्रकाश पड़ता है वह वास्तविक और विश्वसनीय है। इस दृष्टि से जैन रचनाओं का महत्त्व बहुत अधिक है।"[2] आदिकाल के स्वरूप-निर्धारण में अपनी प्रामाणिकता के कारण यह साहित्य सर्वाधिक उपयोगी सिद्ध हुआ है। इनके सुरक्षित भण्डारों तक किसी की पहुँच नहीं हो सकी इसीलिए यह साहित्य सुरक्षित रह सका।

धर्मप्रचार और उपदेशात्मकता—हिन्दी साहित्य के आदिकाल में ही तीर्थंकरों की जीवनियों, सांसारिक वर्णनों, श्रावकों के चित्रणों आदि के द्वारा उन्होंने (जैनों ने) अपने धर्म के सिद्धान्तों का लोकप्रिय रूप में निरूपण किया।[3] मूलतः इन कवियों का उद्देश्य स्वधर्म का प्रचार ही था, इसे नहीं नकारा जा सकता। इसी से इनके ग्रन्थों में जिन, तीर्थंकर, अर्हंत आदि की पूजा प्रकट रूप में ही हुई है या फिर प्रतिपाद्य के नायक और उनके सम्बन्धियों के जीवन की परिणति जैन-धर्म में दीक्षित कर बतलाई गई है। भरतेश्वर बाहुबलि रास, स्थूलिभद्रफागु, कुमारपालरास आदि इसी कोटि की रचनाएँ हैं। यहाँ तक कि रामायण और

---

१. डॉ० रामकुमार वर्मा—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० १४२
२. आ० हजारीप्रसाद द्विवेदी—हिन्दी साहित्य, पृ० १२-१३
३. डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ७४

महाभारत को भी इन्होंने अपने साम्प्रदायिक रंग में रंगकर प्रस्तुत किया है। राम और कृष्ण भी इनके ग्रंथों में अन्त में जैन-धर्म में दीक्षित हो निर्वाण प्राप्त करते हैं। धार्मिकता की यह प्रवृत्ति इनके साहित्य की महत्त्वपूर्ण विशेषता है। जैन साहित्य में शृङ्गारिक रचनाएँ भी उपलब्ध होती हैं लेकिन साम्प्रदायिक कारणों से यह प्रवृत्ति अधिक विकसित नहीं हो सकी। 'जैन साहित्य में यह शैली (रीति शैली) अधिक विकसित नहीं हुई क्योंकि उस पर 'धर्म' का कठिन प्रतिबन्ध था। 'वैराग्य' ने 'अनुराग' को उभरने का अवसर नहीं दिया।"[1] लेकिन इससे इनके महत्त्व में किसी प्रकार की कमी नहीं आती। द्विवेदीजी के अनुसार स्वभावतः ही इनमें जैन-धर्म की महिमा बताई गई है और उस धर्म के स्वीकृत सिद्धान्तों के आधार पर ही जीवन बिताने का उपदेश दिया गया है। परन्तु इसी से इन पुस्तकों का महत्त्व कम नहीं हो जाता। परवर्ती हिन्दी साहित्य के काव्यरूप के अध्ययन में ये पुस्तकें बहुत सहायक हैं। उपदेशात्मकता की प्रवृत्ति भी इनमें मिलती है। यही कारण है कि इनका साहित्य शुष्क और नीरस बन पड़ा है। स्वधर्म के महात्म्य पर यत्र-तत्र विस्तार से उपदेश दिया गया है।

पिष्टपेषण की प्रवृत्ति—इस साहित्य में अपूर्वता के दर्शन कम होते हैं। अधिकांशतः यह साहित्य पूर्ववर्ती आचार्यों और कवियों के द्वारा निर्मित साहित्य के अनुकरण पर लिखा गया है। परम्परा से हटकर मौलिक सृजन की प्रवृत्ति इनमें नहीं मिलती। संभवतः धार्मिक संकीर्णता और आध्यात्मिक कठोर अनुशासन ने इसका अवसर कवियों को नहीं दिया है। साहित्य के क्षेत्र में रूढ़ियों के पालन की यह प्रवृत्ति अन्यत्र नहीं दिखाई पड़ती। "रूढ़ियों का पालन अधिकांशतः अनुवाद की सीमा तक पहुँचा हुआ है।" जैन साहित्य में अनुवादित ग्रन्थों की अधिकता है। स्वतंत्र ग्रन्थ कम हैं। पूर्ववर्ती ग्रन्थों अथवा छन्दों के उद्धरण ही साहित्य का कलेवर बढ़ाने में सहायक हुए हैं। कारण यह है कि हिन्दी जैन साहित्य अधिकतर गृहस्थ या श्रावकों द्वारा लिखा गया है। गृहस्थ या श्रावकों को भय था कि वे स्वतन्त्र ग्रन्थ-रचना करते समय कहीं धर्म-विरुद्ध कोई अनुचित बात न कह दें। अतएव उन्होंने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के सिद्धान्त का ही अनुसरण किया और उन्हीं के ग्रन्थों को अनुवादित किया है।"[2]

रस—धार्मिकता के बाहुल्य के कारण ये रचनाएँ शान्तरस-प्रधान हैं। यद्यपि प्रसंगवश शृंगार और वीररस के भी दर्शन होते हैं, लेकिन शान्तरस का सर्वत्र प्राधान्य है। 'सुदंसणचरिऊ' जैसे ग्रन्थ में शृंगार, 'भरतेश्वर बाहुबलि-रास' में वीर, 'नेमिनाथ फागु' में करुण रस की प्रधानता है किन्तु अन्ततः ये सभी

---

१. डॉ० रामकुमार वर्मा—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० १२३
२. वहीं, पृ० १०१

रस शान्तरस में ही तिरोहित होते हुए बतलाए गए हैं। कृति के अन्त तक पहुँचते-पहुँचते पाठक उसमें शान्तरस को छाता हुआ देखता है और अन्त में निर्वेद को लेकर ही काव्य की परिसमाप्ति की जाती है।

मानवतावादी दृष्टिकोण—सभी जैन कवियों का मूल दृष्टिबिन्दु मानवता पर केन्द्रित है। ये अहिंसा, शान्ति, करुणा के माध्यम से विश्व-मानव के सुख की कामना करते हैं। इस प्रवृत्ति की एक समुचित भूमिका जैनों की साम्प्रदायिक मान्यताएँ निर्धारित करती हैं, जिसका दर्शनपक्ष अहिंसा और कर्मण्यता के कठोर अनुशासन पर आधारित है।

दार्शनिक विचारों का प्रकाशन—इन कृतियों में जैन धर्म के दार्शनिक विचारों को ही प्रस्तुत करने की चेष्टा सर्वत्र दिखाई पड़ती है। सभी कृतियों में जीव के मोक्ष के उपाय की चर्चा की गई है। कर्म बन्धन क्या है, बन्धन के कारण क्या हैं और मुक्ति के उपाय क्या हैं?—यही इनका मुख्य प्रतिपाद्य है। इस प्रकार जीव, अजीव, आस्रव, कर्म, संवर, निर्जरा और मोक्ष—इन सात तत्त्वों की चर्चा विस्तार से की गई है। मोक्ष-प्राप्ति के तीन मार्ग (रत्नत्रयी)—सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र को प्रस्तुत करना ही इनका इष्ट रहा है।

काव्यरूप—काव्यरूपों की दृष्टि से जैन साहित्य वैविध्यपूर्ण कहा जा सकता है।[1] रास, फागु, छप्पय, चतुष्पदिका, प्रबंध, गाथा, चर्चरी, गीत, दोहा, स्तुति, महात्म्य, उत्साह, अभिषेक, कलश, मंगल, वेलि, पर्व आदि सैकड़ों प्रकार की रचनाएँ जैन साहित्य में उपलब्ध हैं। यह बात स्पष्ट की जा चुकी है कि परवर्ती हिन्दी साहित्य इस दृष्टि से जैन साहित्य का विशेष ऋणी है।

भाषा—भगवान महावीर ने अपने उपदेशों को अधिक व्यापक क्षेत्र में फैलाने के उद्देश्य से संस्कृत को छोड़, जनभाषा में अपने उपदेश दिये थे। तभी से जैनों ने जनभाषा को ही अपने प्रतिपाद्य का माध्यम बनाया। यही कारण है कि संस्कृत के जैन साहित्य की समता में लोकभाषा में रचित साहित्य परिमाण में अधिक है। इसलिए इन ग्रन्थों का महत्त्व साहित्यिक दृष्टि से तो है ही, भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से और भी अधिक है। आदिकाल की अनेक मूलभूत समस्याओं के निराकरण में देशी भाषा का जैन-साहित्य अधिक उपयोगी सिद्ध हुआ है। हिन्दी भाषा के विकास की पीठिका के रूप में भी यह भाषा देखी जा सकती है। "जैन साहित्य की भाषा हिन्दी की आदिकालीन स्थिति का द्योतन कराती है यद्यपि उस पर अपभ्रंश का विशेष प्रभाव पाया जाता है।"[2] जैन-साहित्य की भाषा को सूक्ष्म रूप से देखने पर यह बात छिपी नहीं रहती कि इन कवियों की

---

१. डॉ० हरीश—आदिकालीन साहित्य शोध, पृ० २४६

२. डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ७५

भाषा क्रमशः विकासमान रही है। आरम्भिक हिन्दी जैन कवियों की भाषा का परवर्ती कवियों की भाषा से पर्याप्त वैषम्य है। अतः भाषा-विकास की अवस्थाओं को ध्यान में रखते हुए इन कवियों को तीन श्रेणियों में देखा जा सकता है :

१. अपभ्रंश-प्रधान हिन्दी के जैन कवि— सं० १००० से १४००

२. अपभ्रंश से प्रभावित हिन्दी जैन कवि— सं० १४०० से १६०० तक

३. विशुद्ध हिन्दी के जैन कवि— सं० १६०० से बाद के कवि

१. पहली कोटि में उन कवियों की भाषा ग्रहण की जायेगी जिन्होंने अपभ्रंश की छाया में काव्य-सृजन किया। संवत १००० से पूर्व तक विशुद्ध अपभ्रंश में काव्य-रचना होती थी किन्तु अब से नवीन भाषा के संकेत मिलने लगे थे। यह काल एक दृष्टि से अपभ्रंश का ही बढ़ाव का काल है। अतः स्पष्ट ही इस समय की जैन रचनाओं में अपभ्रंश की प्रधानता होनी स्वाभाविक है। "अपभ्रंश से निकलती हुई हिन्दी के प्राचीन रूप हमें इस समय की भाषा में मिलते हैं।"[१] भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से यह भाषा नागर अपभ्रंश से विशेष प्रभावित है और लगभग उसी के व्याकरण के अनुसार इसकी पदयोजना दिखाई पड़ती है। सुदंसणचरिउ, नेमिनाथफागु, भरतेश्वर बाहुबलि रास, करकंडुचरिउ, पाहुड़-दोहा, स्थूलिभद्रफागु, चन्दनबालारास, भविसयत्तकहा, प्रद्युम्नचरित आदि ग्रन्थों की भाषा यही है।

२. संवत् १४०० पर्यन्त हिन्दी भाषा अपभ्रंश के केंचुल को छोड़कर अपने स्वतंत्र अस्तित्व को ग्रहण करने लगी थी। इस पर भी कहीं-कहीं अपभ्रंश भाषा का प्रभाव अभी भी परिलक्षित होता है, जिसमें व्यंजन के स्थान पर स्वर के प्रयोग की प्रवृत्ति, उकार-बहुल ह्रस्व और दीर्घ में विपर्यय, आदि। तथापि इस युग के कवियों की भाषा हिन्दी ही है।

३. तीसरी कोटि के कवि विशुद्ध हिन्दी में रचना करने वाले हैं जिनसे हमें प्रकृत प्रसंग में विशेष प्रयोजन नहीं है। अतः उनको छोड़ा जा रहा है।

छंद — छन्दों के प्रति ये कवि जागरूक दिखाई पड़ते हैं। इनके द्वारा प्रयुक्त विविध छन्द इसके प्रमाण हैं। स्वयम्भू का एक लक्षणग्रन्थ 'स्वयम्भू छन्द' भी इसकी गवाही देता है। जैन कवियों ने वर्णिक और मात्रिक दोनों कोटि के छन्दों का प्रयोग किया है। फिर भी मौलिक रचनाओं में सिर्फ मात्रिक छंदों के प्रयोग की प्रवृत्ति अधिक पायी जाती है। "वर्णिक छन्दों का प्रयोग अधिकांशतः संस्कृत की अनूदित कृतियों में किया गया है और मात्रिक का मौलिक में। मात्रिक छंदों की प्रधानता है और उनमें भी दोहा, चौपाई, कवित्त, सवैया और

---

१. डॉ० रामकुमार वर्मा—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० १५०

विविध पद्य प्रमुख है।"[1] इस प्रकार इन कवियो ने अपने समय मे प्रचलित सभी छंदों का प्रयोग किया है।

दोहा— दोहा अपभ्रश का अपना छंद है और जैनो के साहित्य मे भी इसकी प्रधानता है। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने दोहे की उत्पत्ति आभीर जाति के विरह गानो से बतलाई है। जैन कवियो ने इस छद का प्रयोग अध्यात्म, उपदेश और भक्ति के अर्थ मे ही अधिक किया है। 'पाहुड दोहा' इसका श्रेष्ठ उदाहरण है।

चौपाई—इसका आदि रूप संस्कृत का पद्धड़िया छंद है। उस समय दुवई और ध्रुवक के साथ पद्धड़िया कड़वक के रूप मे प्रयोग किया जाता था। पुष्पदंत के अनुसार इसके आदि आविष्कर्त्ता चतुर्मुख थे। हिन्दी मे आकर दुवई का प्रयोग तो समाप्त हो गया और घत्ता का स्थान दोहे ने ले लिया है और पद्धडिया चौपाई हो गया। इस प्रकार अपभ्रश की कडवक शैली ही हिन्दी की दोहा-चौपाई शैली की उत्पादिका है।

इसके अलावा मालती, मडिल्ल, अडिल्ल, रोला, उल्लाला, रास आदि विविध छदो का प्रयोग जैन कवियो ने किया है।

जैन गद्य साहित्य—जैन साहित्य की एक और विशेषता उसका गद्य साहित्य है। यह केवल पद्य मे ही नही लिखा गया वरन् गद्य मे भी इस साहित्य का प्रणयन हुआ है। चौदहवी शताब्दी से उपलब्ध होने वाली जैन गद्य कृतियाँ आज प्रकाश मे आ चुकी है। यह दूसरी बात है कि यह प्रारम्भिक गद्य अधिकाशतः टिप्पणियाँ आदि के रूप मे प्राप्त होता है जिसे उस समय 'टब्बा' कहा जाता था। "यह भाषा अधिकतर पद्यरूप मे ही है, गद्यरूप मे कम। वादीय-सिंह का 'गद्य चिन्तामणि' तथा धनपाल की 'तिलक मंजरी' गद्यकाव्य के अच्छे उदाहरण हैं। आगे चलकर जैन आचार्यों ने गद्य मे यथेष्ट रचना अवश्य की है। इस समय यदि हमे कही गद्य के दर्शन होते है तो वे केवल टिप्पणियो के रूप मे ही है। जैन साहित्य मे उनका नाम 'टब्बा' है।"[2]

सिद्ध साहित्य

"सिद्ध साहित्य' से हमारा तात्पर्य वज्रयानी परम्परा के उन सिद्धाचार्यों के साहित्य से है जो अपभ्रंश, दोहों तथा चर्यापदो के रूप मे उपलब्ध है और जिसमे बौद्ध तान्त्रिक सिद्धान्तो को मान्यता दी गई है। यद्यपि उन्ही के सम-कालीन शैव-नाथ योगियो को भी सिद्ध कहा जाता था किन्तु कतिपय कारणो से

---

१. डॉ० प्रेमसागर जैन—हिन्दी जैन भक्तिकाव्य और कवि, पृ० ८,८

२. डा० रामकुमार वर्मा—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० १८०-१८१

हिन्दी तथा अन्य कई प्रान्तीय भाषाओं में शैव योगियों के लिए 'नाथ' तथा बौद्ध तांत्रिकों के लिए 'सिद्ध' शब्द प्रचलित हो गया । इसी प्रसंग में 'सिद्ध साहित्य' बौद्ध सिद्धाचार्यों के साहित्य का वाचक हो गया है।"[1] शुक्ल जी आदि कुछ विद्वान् सिद्धों के अपभ्रंश साहित्य को हिन्दी में स्थान नहीं देते। किन्तु राहुलजी सिद्ध सरह को कुछ कारणों से हिन्दी का नीयुग-प्रवर्तक मानते हैं। इनकी रचनाओं को डॉ. रामकुमार वर्मा भी हिन्दी के निकट मानते हैं। इनका साहित्य जैसा कि उद्धरण से स्पष्ट हो जाता है, दोहों और पदों में प्राप्त होता है । दोहाकोश दोहों से युक्त चतुष्पदियों की कड़वक शैली में मिलते हैं, जबकि पद चर्यापदों में मिलते हैं। चर्यापद वस्तुतः बौद्ध तांत्रिक चर्या के समय गाए जाने वाले पद हैं जो विभिन्न सिद्धाचार्यों द्वारा लिखे गए हैं।

विभिन्न सिद्धों के कई दोहाकोश मिलते हैं। ये खण्डित और पूर्ण दोनों अवस्थाओं में प्राप्त होते हैं। कान्हपा, तिलोपा, सरहपा के दोहाकोश प्राप्त होते हैं जिनमें से कुछ का सम्पादन-प्रकाशन हो चुका है। कान्हपा, सरहपा, तिलोपा, जालन्धरपा, वीणापा, भुसुकपा, कुक्कुरीपा, शबरपा, शान्तिपा आदि सिद्धों के चर्यापद प्राप्त होते हैं।

इस साहित्य में साहित्यिकता अधिक नहीं मिलती किन्तु विषय और शिल्प दोनों दृष्टियों से यह साहित्य परवर्ती हिन्दी साहित्य का प्रेरणा-स्रोत रहा है। विशेषतः सन्त साहित्य को इसने दूर तक प्रभावित किया है। इनके साहित्य की खण्डन-मण्डन की प्रवृत्ति, योगाचार, सांसारिक निस्सारता, मायावाद, दोहा-चौपाई शैली आदि विशेषताएँ भक्तिकाल में विविध सम्प्रदाय के साहित्य की भूमिका का कार्य करती हैं।

सिद्ध कौन थे ?

"साधना में निष्णात, अलौकिक सिद्धियों से चमत्कारपूर्ण, अतिप्राकृतिक शक्तियों से युक्त व्यक्ति सिद्ध कहलाते थे।"[2] इनकी साधना की मूल पीठिका मंत्रों के आश्रित थी। मन्त्रों से ये सिद्धियों का प्रचार करते थे और इन्हीं सिद्धियों के कारण ये सिद्ध कहलाये। 'मन्त्रों द्वारा सिद्धि प्राप्त करने की युक्ति प्रचारित करने वाले साधक सिद्ध नाम से प्रसिद्ध हुए।"[3] भारत में ई० शताब्दी तक ही बौद्धधर्म एकसूत्र में बंधा रह सका। उसके बाद वह क्रमशः विघटित होता गया। राजनैतिक, धार्मिक परिस्थितियों ने उसे हीनयान और महायान दो

१. डॉ० धर्मवीर भारती—सिद्ध साहित्य, पृ० १६
२. हिन्दी साहित्य कोश, पृ० ६२७
३. डॉ० रामकुमार वर्मा—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० २२

सम्प्रदायों में विभाजित कर दिया। कतिपय कारणों से बौद्ध धर्म राज्याश्रय से भी वंचित हो गया। विवश होकर यह लोक-जीवन की ओर अग्रसर हुआ। इसी विकास-परम्परा में महायान से वज्रयान और सहजयान का विकास हुआ। आठवीं शताब्दी धार्मिक दृष्टि से संक्रान्ति का काल है। इसी समय सिद्धों का उदय हुआ जो वस्तुतः बौद्ध धर्म की ही विकृतावस्था या विकासावस्था के परिचायक हैं। "बौद्ध धर्म विकृत होकर वज्रयान सम्प्रदाय के रूप में देश के पूर्वी भागों में बहुत दिनों से चला आ रहा था। इन बौद्ध तांत्रिकों के बीच वामाचार अपनी चरम सीमा को पहुँचा। ये बिहार से लेकर आसाम तक फैले थे और सिद्ध कहलाते थे। 'चौरासी सिद्ध' इन्हीं में हुए हैं जिनका परम्परागत स्मरण जनता को अब तक है।"[1] बौद्धधर्म से सम्बन्धित होते हुए भी सिद्धों ने समसामयिक परम्पराओं का प्रभाव ग्रहण कर अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बना लिया था। इन्होंने जनता पर अपना प्रभुत्व जमाने के लिए जन-भाषा को आधार बनाया। इस कारण शिष्ट समाज ने भले ही इनकी उपेक्षा की हो पर जनता इनकी सीधी-सादी भाषा से अधिक आकर्षित हुई। जनता को आकर्षित करने के लिए इन्होंने जनभाषा का ही आश्रय ग्रहण नहीं किया अपितु मन्त्र, सिद्धियाँ आदि अन्य साधन भी अपनाये, जिनकी अवतारणा इस देश की परिस्थितियों के अनुकूल ही हुई। "सिद्ध सामन्त युग की कविताओं की सृष्टि आकाश में नहीं हुई है। वे हमारे देश की ठोस धरती की उपज हैं। कवियों ने जो खास-खास शैली भाव को लेकर कविताएँ कीं वह देश की तत्कालीन परिस्थितियों के कारण ही।"[2]

सिद्धों की नामावली देखने से पता चलता है कि इनमें प्रायः सभी वर्ण के साधक थे। सबसे अधिक शूद्र थे, फिर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि सभी थे। इनमें राजकुमार, राजा भी शामिल थे। स्त्रियाँ भी सिद्ध सूची में मिलती हैं। ये मुख्यतः देश के पूर्वी भारत में फैले हुए थे। बाद में राजनैतिक परिस्थितियों से ये दक्षिण में भी फैल गए थे। दक्षिण के आन्ध्र शासकों ने इन्हें शरण दी और उनकी राजधानी धान्यकटक के पास का 'श्रीपर्वत' इनका महान् सिद्धपीठ बना।

सिद्ध अजर-अमर और देवों, यक्षों, डंकिनियों आदि के स्वामी माने जाते थे। तांत्रिक युग में लगभग प्रत्येक सम्प्रदाय में सिद्धों की सूचियाँ मिलती हैं लेकिन हिन्दी साहित्य में सिद्ध शब्द सिर्फ बौद्ध सिद्धाचार्यों के लिए प्रयुक्त होता है, जो पूर्वी भारत में तांत्रिक साधनाएँ करते थे और प्रज्ञोपायात्मक युगनद्ध द्वारा सिद्धि प्राप्त करते थे। इस प्रकार सिद्धों के बारे में समस्त परिचयात्मक

---

१. आ० रामचन्द्र शुक्ल—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ७
२. राहुल सांकृत्यायन—हिन्दी काव्यधारा पृ० १३

बातें निम्नलिखित हैं—

१. सिद्ध बौद्ध धर्म के ही विकसित रूप हैं।
२. मन्त्रों से सिद्धि प्राप्त करने की युक्ति प्रचारित करने के कारण ये सिद्ध कहलाते थे।
३. समसामयिक सम्प्रदायों से प्रभाव ग्रहण कर इन्होंने अपना स्वतन्त्र अस्तित्व प्राप्त कर लिया था।
४. इन्होंने सामान्य जनता को आकर्षित करने की विशेष चेष्टा की।
५. देश के पूर्वी भागों में इनका आवास था लेकिन दक्षिण में भी इनका सिद्धपीठ था।
६. ये तान्त्रिक साधनाएँ कर युगनद्ध रूप में सिद्धि-प्राप्ति की चेष्टा किया करते थे।

सिद्धों के साधना-केन्द्र

सिद्धों की व्यक्तिगत विशिष्टता के समान ही इनकी साधना के भी कुछ विशिष्ट केन्द्र थे। उन साधना-केन्द्रों को सिद्धपीठ कहा जाता था। जनता उन केन्द्रों के प्रति वैसा ही श्रद्धाभाव रखती थी जैसी श्रद्धा उनके मन में सिद्धों के प्रति थी। यद्यपि अलग-अलग स्रोतों से अलग-अलग सिद्धपीठों के नाम मिलते हैं तथापि उनमें से कुछ ये हैं—कामरूप, ओडियान, कामाख्या, पूर्णगिरि, अर्बुद, श्रीहट्ट, जालन्धर आदि। इनके अतिरिक्त कहीं-कहीं श्रीपर्वत को भी सिद्धपीठ बताया गया है। नालन्दा और विक्रमशिला विश्वविद्यालय भी सिद्धों से सम्बन्धित रहे हैं।

सिद्धों की संख्या

सिद्धों की संख्या ८४ बताई जाती है। लेकिन यह संख्या विश्वसनीय नहीं कही जा सकती क्योंकि "जहाँ तक ८४ संख्या का प्रश्न है, यह संख्या वास्तविक न होकर काल्पनिक संख्या मालूम होती है। तन्त्रों में ८४ संख्या का एक विशेष महत्त्व है, उसके गूढ़ तान्त्रिक अभिप्राय हैं। तन्त्रों में, योग में, आसन भी ८४ माने गये हैं और वहाँ भी इस संख्या का सांकेतिक महत्त्व है।"[1] यह ८४ संख्या उस समय के लगभग सभी सम्प्रदायों में मिलती है। यह उस समय का एक विश्वास था कि सम्प्रदाय में ८४ सिद्धों का होना जरूरी है। "उस तान्त्रिक काल में प्रत्येक प्रान्त में, प्रत्येक सम्प्रदाय में जाने कितने तान्त्रिक योगी होते थे, जिनमें से कुछ विलक्षण सिद्धियों को उपलब्ध कर लेने वालों को सिद्ध कहा जाने

1. डॉ० माताप्रसाद गुप्त—जायसी ग्रन्थावली, पृ० ३३४

लगता था। किन्तु साम्प्रदायिक प्रतिद्वन्द्विता के कारण प्रत्येक सम्प्रदाय कुछ सिद्धों को महत्त्व देता था और कुछ का विरोध करता था। इस स्थिति में प्रत्येक सम्प्रदाय की सिद्धों की सूची अलग-अलग थी।"[1] इस प्रकार ८४ की संख्या का महत्त्व होने से प्रत्येक सम्प्रदाय इस निश्चित संख्या की पूर्ति देखना चाहता था। इसलिए विभिन्न शताब्दियों तथा विभिन्न प्रान्तों के प्रसिद्ध सिद्ध पुरुषों के नाम अपनी सूची में जोड़ दिए जाते थे।"इसलिए प्रत्येक सम्प्रदाय की सूची मे दूसरे सम्प्रदाय के भी कितने ही सिद्ध सम्मिलित रहते थे और उनका औचित्य सिद्ध करने के लिए कुछ साम्प्रदायिक दन्तकथाएँ गढ़ ली जाती थीं जिनमें यह सिद्ध किया जाता था कि वास्तव में ये सिद्ध इसी सम्प्रदाय के हैं।"[2] फलतः उपलब्ध सभी सूचियाँ प्रामाणिक नहीं मानी जा सकतीं। "इन सिद्धों की संख्या देश-काल के प्रभाव से सीमित और भिन्न देखी जाती है। इनकी अनेक सूचियाँ मिलती हैं। सभी सूचियों में सभी सिद्धों के नाम समान रूप से नहीं मिलते, कुछ में तो कहने के लिए संख्या ८४ कह दी गई है किन्तु सिद्धों के नाम कम ही दिए गए हैं।"[3] तात्पर्य यह है कि सिद्धों की सूचियां शुद्ध ऐतिहासिक दृष्टि से विश्वास-योग्य और प्रमाण-योग्य नहीं है। और सिद्धों की निश्चित संख्या नहीं जानी जा सकती।

८४ संख्या रखने का कारण—ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट हो गया है कि उस समय प्रायः प्रत्येक सम्प्रदाय इस संख्या को महत्त्व देता था। अब प्रश्न उठता है कि इसी संख्या को रखने का क्या कारण था? डॉ० नगेन्द्रनाथ उपाध्याय इस संदर्भ मे दो-तीन कल्पनाएं करते हैं—"कुछ के मतानुसार ८४ सिद्धों का सम्बन्ध ८४ लाख योनियों से है। कामशास्त्र के ८४ आसनों से भी उनका सम्बन्ध जोडा जाता है। किन्तु अधिकतर मान्य यह है कि यह संख्या १०८ की तरह ही रहस्य संख्या (मिस्टिक नम्बर) है। नवनाथों के सम्बन्ध में भी इसी तरह के अनुमान किए जाते हैं।"[4] हिन्दी साहित्य कोश के अनुसार "बारह राशि और सात नक्षत्रों का गुणनफल चौरासी है।" अतः इस संख्या के रखे जाने का कोई निश्चित कारण ज्ञात नहीं होता।

---

१. डॉ० मोहनसिंह—सिद्ध साहित्य (डॉ० धर्मवीर भारती), पृ० २६ से उद्धृत
२. डॉ० धर्मवीर भारती—सिद्ध साहित्य, पृ० २६
३. तान्त्रिक बौद्ध साधना और साहित्य—डॉ० नगेन्द्रनाथ उपाध्याय, पृ० २०३
४. वही, पृ० २०३

सस्क्य-विहार की सूची

राहुलजी ने तिब्बत के सस्क्य-विहार की ग्रन्थावली 'बस्तन्-ग्युर्' के आधार पर ८४ सिद्धों की सूची इस प्रकार प्रस्तुत की है:

१. लुइपा	२. लीलापा	३. विरूपा
४. डोम्बीपा	५. शबरपा	६. सरहपा
७. कंकालीपा	८. मीनपा	९. गोरक्षपा
१०. चौरंगीपा	११. वीणापा	१२. शान्तिपा
१३. तन्तिपा	१४. चमारिपा	१५. खड्गपा
१६. नागार्जुन	१७. कन्हपा (चर्यपा)	१८. कर्णरिपा
१९. थगनपा	२०. नारोपा	२१. शीलपा
२२. तिलोपा	२३. छत्रपा	२४. भद्रपा
२५. द्विखंडिपा	२६. अजोगिपा	२७. कालपा
२८. घोम्भिपा	२९. कंकणपा	३०. कमरिपा
३१. डेंगिपा	३२. भदेपा	३३. तंधेपा
३४. कुक्कुरिपा	३५. कुचूलिपा	३६. धर्मपा
३७. महीपा	३८. अचिन्तिपा	३९. भवपा
४०. नलिनपा	४१. भुसुकपा	४२. इन्द्रभूति
४३. मेकोपा	४४. कुठालिपा	४५. कमरिपा
४६. जालंधरपा	४७. राहुलपा	४८. धर्मरिपा
४९. धोकरिपा	५०. मेदनीपा	५१. पंकजपा
५२. वज्रपा (घंटापा)	५३. जोगीपा	५४. चेलुकपा
५५. गुंडरिपा	५६. लुचिकपा	५७. निर्गुणपा
५८. जयानन्द	५९. चर्पटीपा	६०. भीखनपा
६१. भलिपा	६२. कुमरिपा	६३. चवरिपा
६४. मणिभद्रा	६५. मेखलापा	६६. कनखलापा
६७. कलकलपा	६८. कंतालीपा	६९. धहुरिपा
७०. चम्पकपा	७१. उधरिपा	७२. कमलपा
७३. किलपा	७४. सागरपा	७५. सर्वभक्षपा
७६. नागबोधिपा	७७. दारिकपा	७८. पुतुलिपा
७९. पनहपा	८०. कोकालिपा	८१. अनंगपा
८२. लक्ष्मीकरा	८३. समुदपा	८४. व्यालिपा

सिद्धों का समय

सिद्धों का समय दीर्घकाल व्यापी नहीं है। "जहाँ तक समय का सम्बन्ध है, यह सिद्ध परम्परा अधिक से अधिक दो या तीन शतियों की परिधि में ही आ जाती है क्योंकि इनमें से बहुत से सिद्ध समकालीन थे।"[१] डॉ० रामकुमार वर्मा के अनुसार 'सिद्धों का समय संवत् ७९७ से १२५७ तक माना जाता है, डॉ० शाहीदुल्ला ने मत्स्येन्द्रनाथ का समय सातवीं शती बताया है, जो परवर्ती विद्वानों को अमान्य है। राहुल जी भी सातवी शताब्दी लगभग से ही सिद्धों का समय बतलाते है, जबकि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जनता पर सिद्धों का प्रभाव दसवीं शताब्दी के समय से मानते हैं। इसलिए मोटे तौर पर आठवीं से बारहवी शताब्दी तक सिद्धों का समय माना जा सकता है।

आदि सिद्ध कौन था ?

सिद्धों के प्रवर्त्तक को लेकर भी विद्वानों में मतभेद है। इस विवाद का कारण वस्तुतः तत्कालीन धार्मिक व्यामोह है जिसके फलस्वरूप साम्प्रदायिक महत्त्व के व्यक्ति को, ऐतिहासिक दृष्टि से आदि-प्रवर्त्तक न होते हुए भी, सम्प्रदाय विशेष का प्रवर्त्तन उसी से बतलाया जाता था। "सिद्ध परम्परा में कभी भी आदि सिद्ध इतिहास के आधार पर नहीं माना गया। प्रत्येक सम्प्रदाय अपने आम्नाय के प्रवर्त्तक को आदि सिद्ध या आदि नाथ मानता था और उसको दूसरे रूप में या दूसरी काया में अन्य सिद्धों से पहले बतलाता था। अर्थात् आदि सिद्ध ऐतिहासिक कालक्रम से नहीं बल्कि साम्प्रदायिक महत्त्व से निर्णीत होता था।"[२]

फिर भी सिद्धों के प्रवर्त्तन का श्रेय सरहपाद को दिया जाता है। इसके मुख्य समर्थक राहुल सांकृत्यायन है। उनके अनुसार "बौद्धधर्म अपने हीनयान और महायान के विकास को चरमसीमा तक पहुँचाकर अब नई दिशा लेने की तैयारी कर रहा था, जब उसे मन्त्रयान, वज्रयान या सहजयान की संज्ञा मिलने वाली थी। और जिसके प्रथम प्रणेता स्वयं सरहपाद थे।"[३] वैसे स्वयं राहुलजी ने सरह और लुई दोनों का समय एक ही माना है, किन्तु उनके अनुसार लुइपा सरहपाद की शिष्य-परम्परा में तीसरे नम्बर पर आते हैं इसलिए प्रवर्त्तन का श्रेय सरहपाद को मिलना चाहिए। आ० रामचन्द्र शुक्ल भी सरहपाद को आदि सिद्ध मानते हैं। डॉ० विनयतोष भट्टाचार्य ने भी सरह का समय (६३३ ई०) और लुई के समय (६६९ ई०) से पहले माना है।

---

१. डॉ० धर्मवीर भारती, सिद्ध साहित्य, पृ० ३५
२. वही, पृ० ४५
३. राहुल सांकृत्यायन—सरहपाद कृत दोहाकोश, पृ०४

सिद्धों के प्रवर्तक के रूप में लुईपाद का नाम भी लिया जाता है। डॉ० प्रबोधचन्द्र बागची ने 'कौलज्ञाननिर्णय' की भूमिका में मत्स्येन्द्रनाथ और लुइपा को अभिन्न माना है। इस प्रकार वे लुईपाद को आदि सिद्ध मानते हैं। म० म० हरप्रसाद शास्त्री ने भी लुईपाद के आदि सिद्धाचार्यत्व की ओर संकेत किया है। वस्तुतः लुइपा आदि सिद्ध नहीं ठहराए जा सकते क्योंकि "लुइपा की आदि सिद्ध के रूप में प्रतिष्ठा संभवतः बाद में कामरूप के शैव सम्प्रदायों की प्रतिद्वन्द्विता में हुई है।"[1] इसी प्रकार नाथों की सूची में मत्स्येन्द्रनाथ को आदि सिद्ध घोषित किया गया है।

सरहपाद के बारे में ऐसे संकेत मिलते हैं जो उनको आदि सिद्ध ठहराने में सहायक सिद्ध होते हैं। उनके अनुसार इन्होंने बौद्धधर्म को एक सुगठित रूप दिया और सम्प्रदाय का सम्यक् प्रवर्त्तन किया। इसलिए डॉ० धर्मवीर भारती का कहना है कि "इतना मानने में कोई बाधा नहीं कि बौद्धतंत्रों के सरहपाद का बहुत बड़ा महत्त्व है। और चाहे वे कालक्रम में सर्वप्रथम न हों, जैसा राहुलजी का आग्रह है, किन्तु उन्हें महत्त्व की दृष्टि से आदि सिद्ध माना जाता रहा है।"[2]

महायान का विकास

ये सिद्ध बौद्धधर्म की महायान शाखा के विकसित रूप थे, इसलिए महायान का विकास जान लेना आवश्यक है। साधारणतः महायान का (बौद्धधर्म के अन्तर्गत) विकास ईसा की पहली शताब्दी के लगभग माना जाता है। "हीनयान या महायान का विवाद जब बौद्ध धर्म में उठा उस समय सबसे बड़ी समस्या व्यक्तिगत और सामुहिक निर्वाण की थी।"[4] क्योंकि जैसे-जैसे बौद्ध धर्म का विकास होता गया उसमें गृहस्थ, राजा, शासनाधिकारी तथा जन-सामान्य के अनेक उच्च-निम्नवर्ग के लोग उसके अनुयायी होते गये। बौद्ध धर्म की साधना पद्धति इतनी कठिन और दुसाध्य थी कि इन सभी अनुयायियों को उनमें नहीं खपाया जा सकता था। इसलिए बदली हुई परिस्थितियों में देश-काल के अनुसार अनेक नये नियमों का निर्माण करना पड़ा। अब तक साधना पद्धति का मूल केन्द्र व्यक्ति तथा उसका निर्वाण था जबकि अब समस्त लोक की मुक्ति के लिए प्रयास किये जाने लगे। "इस प्रकार हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि महायान के विकास की मूल प्रेरणा बौद्ध धर्म को लोकजीवन के निकट पहुँचाने और ऐसे पथ का विकास करने की थी जिसमें केवल सम्बुद्ध व्यक्ति का ही नहीं वरन् समस्त

---

१. डॉ० धर्मवीर भारती—सिद्ध-साहित्य, पृ० ४३
२. वहीं, पृ० ४३
३. डॉ० धर्मवीर भारती की पुस्तक पर आधारित
४. डॉ० नागेन्द्रनाथ उपाध्याय—तान्त्रिक बौद्ध साधना और साहित्य, पृ० १६३

लोक-कल्याण हो सके। यह प्रवृत्ति बुद्ध के बाद से ही धीरे-धीरे अंकुरित हुई और फिर महायान के विशाल वटवृक्ष में परिणत हो गई।"[1]

बौद्धधर्म में आगे जाकर इतने पृथक् सम्प्रदायों के विकसित होने का मुख्य कारण बुद्ध का वह उपदेश है जिसमें उन्होंने भिक्षुओं को यह आदेश दिया है कि वे उनके उपदेशों को अन्धश्रद्धा से ग्रहण न करें वरन् उनका सम्यक् परीक्षण कर ऐसा करें। बुद्ध के समय ही कुछ लोग उनकी बातों को अपने ढंग से प्रकट करने लगे। बुद्ध के निर्वाण के बाद ऐसे लोगों की संख्या ज्यादा हो गई। कुछ समय बाद बुद्ध के उपदेशों को विकृत होने से बचाने की आवश्यकता प्रतीत हुई और महास्थविर काश्यप की प्रेरणा से अजातशत्रु के द्वारा राजगृह में बौद्धों की प्रथम संगीति बुलाई गई। इसमें ४९९ अर्हतों ने भाग लिया और इसी संगीति में ही विनयपिटक, अभिधम्मपिटक और सुत्त पिटक का संग्रह किया गया।

इसके कुछ समय बाद बौद्धधर्म में बुद्ध द्वारा प्रवर्तित कठोर श्रमण आचारों के विरुद्ध विद्रोह की एक लहर आयी। वैशाली के भिक्षुओं ने एक प्रकार से उनका नेतृत्व करते हुए नवीन सिद्धान्तों का प्रचार किया। इस व्यवस्था से दुःखी होकर स्थविर यश ने अन्वती, मथुरा आदि से भिक्षु बुलाए और ३८६ ई० पू० में वैशाली में दूसरी संगीति हुई। इसमें ७०० भिक्षु सम्मिलित हुए। आठ महीनों तक विचार चलता रहा और वैशालिकों के दसों नियम गर्हित माने गए तथा महास्थविर की जीत हुई। किन्तु पूर्वीय भिक्षुओं ने इससे क्षुब्ध होकर मगध में अपना अलग केन्द्र स्थापित किया और अपने दल का नाम महासंघिक दल रखा। इस प्रकार दूसरी संगीति के बाद से बौद्धों के पूर्वी और पश्चिमी दो स्पष्ट दल हो गए। पश्चिमी दल स्थविरवादी (थेरवादी) और पूर्वीय दल महासंघिक कहलाया।

अशोक ने राजपुत्र तिष्य मोग्गलि की अध्यक्षता में तीसरी संगीति बुलाई जिसमें १००० भिक्षु सम्मिलित हुए। आठ-दस माह तक कार्य करके इस संगीति में एक तो विनय, अभिधर्म तथा सुत्त को अन्तिम रूप दिया गया और दूसरे बौद्धमत के १८ निकायों वाला कथावस्तु नामक ग्रंथ प्रस्तुत हुआ।

अशोक के बाद १८२ ई० पू० में पुष्यमित्र ने बृहद्रथ को मारकर शुंगवंश की स्थापना की। यह ब्राह्मण था इसलिए उसने भिक्षुओं को मारना तथा विहारों को जलाना शुरू किया। इससे महासंघिक भिक्षु भागकर दक्षिण में आन्ध्र राजाओं की शरण में चले गए। यहाँ पर पहले से ही महासंघिकों की चैत्यवादी शाखा स्थापित थी। नगर के दोनों ओर निवास होने के कारण यह शाखा दो नामों, पूर्वशैलीय और अपरशैलीय, से पुकारी जाने लगी। इन दो शाखाओं के बाद

---

१. डॉ० धर्मवीर भारती—सिद्ध-साहित्य, पृ० १०१

इनमें राजगिरक तथा सिद्धार्थक दो और शाखाएँ प्रकट हुईं। इन सम्प्रदायों में बौद्धधर्म का स्वरूप बहुत कुछ बदल चुका था। ये चार शाखाएँ अंधनिकाय नाम से प्रख्यात हुईं। इसी अंधनिकाय (वैपुल्यवादियों का आधारभूत निकाय) से महायान का जन्म हुआ और इस प्रकार के उदार सम्प्रदायों ने अपने को महायानी और अन्य अनुदार सम्प्रदायों को हीनयानी कहना शुरू किया। "अब इन सारी बातों को ध्यान से देखें तो मालूम होगा कि विराट् बौद्ध सम्प्रदाय पहले दो खण्डों में बँट गया—हीनयान और महायान। हीनयान सम्प्रदाय वाले अपने को शुरू में ही हीनयान (=छोटे रथ) के आरोही नहीं कहते थे। पर महायान वालों ने इस शब्द का ऐसा प्रचार किया कि हीनयान वालों को भी अन्त में उसे मान लेना पड़ा।"[1] महायान नाम कब से पड़ा इसका ठीक-ठीक पता तो नहीं लगाया जा सकता, फिर भी अनुमानतः यह समय ईसा की पहली शताब्दी के लगभग रहा होगा। महायान अर्थात् बड़ी गाड़ी के आरोहियों का दावा है कि वे नीचे-ऊँचे, छोटे-बड़े, सबको अपनी विशाल गाड़ी में बैठाकर निर्वाण तक पहुँचा सकते हैं। महायान के इस नाम में ही जन साधारण के साथ उनके गंभीर योग का आभास मिलता है।[2] महायान को गुह्ययान और हीनयान को व्यक्तोयान भी कहते हैं। महायान के अधिकांश सूत्रों का उपदेश गुह्य संगीतियों में हुआ, इसीलिए यह गुह्ययान कहलाया।

आगे चलकर महायान के भी टुकड़े हो गए। पारमितानय और मंत्रनय उसके मुख्य रूप हैं। मंत्रनय में धीरे-धीरे तान्त्रिक साधनाओं का विकास हुआ और महायान का स्वरूप तान्त्रिक होकर वज्रयान नाम से अभिहित किया जाने लगा। "इस प्रकार महायान की लोकपरक साधना ने ही मंत्रनय और वज्रयानी तांत्रिक साधनाओं में परिणति पायी।"[3]

वज्रयान

तान्त्रिक साधना ने वज्रयान के लिए स्वरूप प्रदान किया। तन्त्र की व्युत्पत्ति तन् धातु से हुई। 'तन्यतेविस्तारयते ज्ञानम् अनेन इति तन्त्रम्' के अनुसार किसी भी ज्ञान को जो विस्तार देता है वह तन्त्र है। "ज्ञात यह होता है कि धर्म-साधनाओं में जिन नई पूजाओं, मन्त्र-पद्धतियों, देवी-देवताओं, अनुष्ठानों, यन्त्रों, योग-साधनाओं का प्रवेश हो रहा था उन्हें पूर्ण रूप से एक ज्ञान या चिन्तनापद्धति के अन्दर समन्वित कर एक नियम अथवा अनुशासन में

---

१. आ० हजारीप्रसाद द्विवेदी—हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० ६
२. वही, पृ० ३
३. डॉ० धर्मवीर भारती—सिद्ध साहित्य, पृ० ११२

योजित कर देने वाली प्रणाली का नाम तन्त्र पड़ गया।"[1] तंत्र का सर्वप्रथम प्रयोग महायान में मंत्रों के रूप में हुआ। महायान में जब से गुह्य साधनाओं का विकास हुआ तब से उसका रूप तान्त्रिक हो गया और उसे वज्रयान कहा गया। वज्र की कल्पना ही इसका कारण है। शून्य को ही वज्र कहा जाने लगा। वज्र में शून्य की दृढ़ता, अच्छेद्यता, अभेद्यता आदि गुण मिलते हैं अतः शून्य को ही वज्र कहा जाने लगा। इसी शून्यता या वज्र को प्राप्त करने वाले मार्ग को इन्होंने वज्रयान कहा। "इस प्रकार वज्रयान मन्त्रयान का उत्तराधिकारी कोई नवीन तांत्रिक सम्प्रदाय नहीं था। केवल वज्र की नवीन कल्पना के आधार पर मंत्रयान का नया नामकरण था और उसमें कई नवीन तत्त्व जोड़ दिये थे जिनका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सम्बन्ध वज्र से था।"[2]

वज्रयान की यह परम्परा प्रारम्भ में गुप्त रूप में ही चलती रही। उसे पहली बार एक व्यवस्थित रूप देने का कार्य सरहपाद ने किया। सरह के बाद वज्रयान देश-विदेश की अनेक संस्कृतियों-सम्प्रदायों के सम्पर्क में आया और प्रायः सभी से उसने कुछ-न-कुछ तत्त्व ग्रहण किया। सिद्धकाल में पहली बार बौद्ध धर्म प्रायः हर क्षेत्र में (भाषा, तंत्र, योग, आचार, चिन्तना, साधना, मंत्र, देवता आदि के सम्बन्ध में) ग्रहणशील वृत्ति को व्यापक रूप में अपना सका।

सहजयान

"कठिन मार्ग वह है जो अधिक दिनों तक साधना करने के बाद परम शान्ति-स्थान निर्वाण तक पहुँचाता है। सहजमार्ग वह है जो विश्वास और श्रद्धा के बल पर शीघ्र ही उद्देश्य तक पहुँचा देता है।"[3] वस्तुतः सहजयान, वज्रयान से अलग कोई स्वतंत्र शाखा नहीं है। ये सिद्ध सहज पर अधिक बल देते थे। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि वे मंत्र-तंत्र आदि का बहिष्कार करते थे। केवल गुह्याचारों से पृथक् सहज-स्वाभाविक जीवन का उपदेश देने के कारण ये सहजयानी कहलाए। इनकी साधना मुख्यतः प्रज्ञोपाय साधना ही थी अतः इन्होंने सहज का अर्थ लिया जो सहगमन से उद्भूत हो। "वास्तव में सहज एक आम्नाय या पद्धति थी जिसमें हठयोग द्वारा प्रज्ञा और उपाय का सामरस्य स्थापित कर अनुत्तर ज्ञान, महासुख अनुभूतियाँ और सहजस्व भाव सिद्ध कर, महामुद्रा के साथ रहते हुए समस्त बाह्य अनुष्ठानों से मुक्त होने पर विशेष बल दिया जाता था।"[4]

---

१. सिद्ध साहित्य, पृ० ११६ से उद्धृत
२. डॉ० धर्मवीर भारती—सिद्ध साहित्य, पृ० १४१
३. डॉ० नागेन्द्रनाथ उपाध्याय—तान्त्रिक बौद्ध साधना और साहित्य, पृ० १६४
४. डॉ० धर्मवीर भारती—सिद्ध साहित्य, पृ० १४६

कालचक्रयान

इसका भी सिद्ध साहित्य से गहरा सम्बन्ध था। यह योगमार्ग है जिसमें योग-साधनाओं की व्याख्या की गई है। इसके अनुसार धर्म, धातु और आकाश के लक्षण वाला परम अक्षर और अच्युत सुख ही काल है। काल की अन्य विशेषताओं में उसे सर्वाकार, सर्वेन्द्रिय, विश्वरूप, निष्कल, देहस्थ, प्रज्ञा और उपाय से समन्वित होना आदि है। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री के अनुसार 'काल' का अर्थ है समय, काल और विध्वंस का देवता। और 'कालचक्र' का अर्थ है ध्वंस का चक्र। और 'कालचक्रयान' का अर्थ है वह यान जो उस कालचक्र (ध्वंस चक्र) से रक्षा करे। इसके प्रत्येक अक्षर का अर्थ इस प्रकार है :

का=कारण
ल=लय
च=चलचित्त
क्र=क्रम-बन्धन

"जहाँ तक साधना का प्रश्न है कालचक्रतन्त्र में इसकी साधना को केवल देह और उसके चक्रों और नाड़ी-जाल में ही सीमित बताया गया है। समय या काल की स्थिति भी देह में है और वह प्राणवायु की गति के रूप में है।"[1]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि सिद्धों का सम्बन्ध मूलतः बौद्ध धर्म के महायान सम्प्रदाय से है। मंत्रयान, वज्रयान, सहजयान और कालचक्रयान सभी पर आधारित इन्होंने अपने विचार प्रस्तुत किये हैं।

सिद्ध साहित्य की दार्शनिक पीठिका

चित्त—"ये चित्त की सत्ता मानते थे और समस्त संसार को चित्त की ही भ्रान्ति मानते रहे हैं। इन लोगों की दृष्टि में, इस प्रकार, संसार का अस्तित्व बाह्य न होकर चित्तगत ही है। जिस समय चित्त इस संसार के वास्तविक स्वरूप को जानकर इसकी भ्रान्ति से मुक्त हो जाता है, उस समय उसका सदेह निर्वाण हो जाता है।"[2] सिद्ध सरहपाद ने चित्त की अपार शक्ति की चर्चा की है और वे उसके स्वरूप को समझ लेने को ही पुरुषार्थ मानते थे।

चित्तेक सअल बीअ भव-निव्वाणा, जम्म विफुरन्ति
तं चिन्तामणिरूअं, पणमह इच्छाफलं देइ ॥

(चित्त से ही समस्त संसार का निर्माण हुआ है, इसी से विकास होता है। चित्त-रूपी यह चिन्तामणि प्रणम्य है जो इच्छाओं की पूर्ति करती है।) मन या

---

१. डॉ० धर्मवीर भारती— सिद्ध साहित्य, पृ० १२६
२. वही, पृ० १८६

चित्त को मुक्त करना ही परम कर्तव्य है। बौद्धों की परिभाषा के अनुसार चित्त, मन और विज्ञान एक ही चीज के नाम हैं। चित्त वह है जो कर्मों का चयन करता है, मन वह है जो उनका विधान करता है और विज्ञान वह है जो कर्मों को जानता है, उनकी संवेदना प्राप्त करता है।

संसार की सापेक्षता में चित्त के दो रूप हैं—बद्ध और मुक्त। बद्धचित्त के लिए यह लोक मोहजाल है, मायाजाल है लेकिन मन के निश्चल हो जाने पर चित्त भव-प्रवाह से मुक्त हो जाता है। ऐसे निर्मल चित्त के लिए यही भव परम ज्ञानरूप निर्वाण में परिवर्तित हो जाता है।

वज्झइ कम्मेण जणो कम्मविमुक्केण होइ मणमुक्को
णणमोक्खेण अणुअरं पाविज्जइ परम (णि) व्वाणं। —सरह

जगत्—सिद्धों ने जगत् को चित्तगत बताकर आभ्यंतर और बाह्य की दृश्यमान भिन्नता को भ्रान्ति माना है। और भ्रान्ति के परे दोनों की एक ही सत्ता मानी है। "निर्मल चित्त स्वभाव से देखने पर यही परिभावना होती है कि जो आत्मा है वही जगत् है...पर तथा आत्म का भेद केवल भ्रान्ति मात्र है।" —(तिलोपा) इस प्रकार ये चित्त और जगत् में अभेद मानकर पार उतरने के साधन, जगत् की स्थिति भी इसी चित्त में स्थित मानते हैं—

एथु से सरसइ सोवाणाह, गङ्गासाअरु
वाराणसी पयागुएथु, से चांद दिवाअरु —सरह

(ये गंगा, सरस्वती, वाराणसी, प्रयाग, चांद, सूर्य आदि सभी इस चित्त में ही हैं।)

सिद्ध तिलोपा इस संसार को स्कंधभूत, आयतन और इन्द्रियों द्वारा निर्मित मानते है जो सहज स्वभाव में बांधे जा सकते हैं।

सिद्धों की दृष्टि में संसार भ्रम-मात्र है—

जिम जलेंहि ससि दिसइच्छाआ, तिम भव पडिहासइ सअल विमाआ
अइसो चित्त भमन्तेण दिट्ठो, भव णिव्वाण णिरन्तरे पइट्ठे।

(जल में पड़ने वाले चन्द्र के प्रतिबिम्ब के समान यह संसार माया प्रतिभासित होता है। अतः भव में चित्त को न भटकाकर निरन्तर निर्वाण में प्रविष्ट होने का प्रयास करना चाहिए।)

पंचभूत – पृथ्वी, जल, आकाश, अग्नि और वायु-- इन पांच तत्वों से इस संसार की निर्मिती सर्वत्र मानी गई है। किन्तु सिद्धों ने पंचभूत में से आकाश का उल्लेख नहीं किया है और केवल क्षिति, जल, वायु तथा हुतासन की चर्चा ही की है। संभवतः इसका मुख्य कारण इनके द्वारा की गई शून्य की चर्चा है। गगन को शून्य का रूप मानकर उन्होंने शून्य की चार प्रकार से चर्चा की है—शून्य, अतिशून्य, सर्वशून्य और महाशून्य। सिद्धों का वज्र ही शून्य का प्रतीक है। इसी कारण

पंचभूतों में से आकाश तत्त्व को छोड़ दिया गया है।

माया—यह जगत् संकल्पों से निर्मित है या चित्त का ही प्रक्षेपण मात्र है। अतः इसे ही माया कहा गया है। बद्धजीव का चित्त जो स्वभाव से निर्मल और सहज होता है उसे माया अपने प्रभाव से मोहाच्छादित कर देती है। ज्ञान की प्राप्ति पर यह मोहजाल विच्छिन्न हो जाता है। यह संसार मरु-मरीचिका है, गंधर्व नगरी है, दर्पण में पड़ने वाले प्रतिबिम्ब के समान है...वन्ध्यासुत जैसे क्रीड़ा करे वैसे ही यह संसार है, बालुका से निसृत तेल की भाँति, शशशृङ्ग की भाँति, आकाशपुष्प की भाँति। (भुसुकपा) जो इसे पहचान लेता है उसे निश्चित रूप से मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है।

निर्वाण—सिद्धों के अनुसार ऐसी स्थिति निर्वाण है जिसमें चित्त निश्चल-निर्विकार हो जाता है। किन्तु इनके निर्वाण सम्बन्धी विचारों में एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि ये लोग निर्वाण-प्राप्ति के बाद भी चित्त के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। बद्धचित्त से निर्वाण-प्राप्त चित्त में यही अन्तर है कि पहला दोषसहित है जबकि दूसरा दोषरहित। सरह के अनुसार साधक को वहाँ जाकर विश्राम करना चाहिए जहाँ जाने पर मन में पवन का संचार नहीं होता, रवि-चन्द्र का भी प्रवेश नहीं हो पाता—

> जहि मण पवण ण संचरइ, रवि ससि णाहि पवेस
> तहि वड़ चित्त विसाम कर, सरहें कहिअ उएस

इसलिए जैसे नमक जल में विलीन हो जाता है वैसे ही चित्त को वहीं स्थित करना चाहिए जहाँ अपने-पराए का भेद समाप्त हो जाता है, वहीं अपनी काया को समा देना चाहिए—

> जिम लोण विलिज्जइ पाणिएहि, तिम जइ चित्तवि ठ्ठाइ
> अप्पा दीसइ पर हि सम, तत्थ समाहिए काइ ॥

निर्वाण के सम्बन्ध में सिद्धों की एक और विशेषता यह है कि वे भव और निर्वाण में अन्तर नहीं मानते हैं। इसे ही संसार मानते हैं और इसे ही निर्वाण-स्थल। वस्तुतः भव और निर्वाण कोई पृथक् स्थितियाँ नहीं हैं वरंच ये चित्त-वृत्तियों की ही दो अवस्थाएँ हैं—

> जग उपपाअणे दुक्ख बहु उप्पण्णउ तहि सुहसार
> उप्पत्ति उप्पाअ णहि, लोअ ण जाण्णइ सार

इस प्रकार संसार में सुख और दुख दोनों उत्पन्न हुए हैं लेकिन लोग इस रहस्य को नहीं जानते कि न तो यहाँ कोई उत्पन्न होता है और न कोई उत्पन्न ही करता है। भव को जान लेना ही निर्वाण है—'परिज्ञानम् भवस्यैव निर्वाणमिति कथ्यते'। और संसार का परिज्ञान का उपाय संकल्प है। इस संसार में जितने भी प्रबुद्ध हुए हैं वे सभी संकल्प के कारण ही ऐसा बन सके हैं—

जत्थवि तत्थवि जहवि-तहवि, जेण-तेण हुअ बुद्ध।
सए सङ्कल्पे णासिअऊ, जगु सहावहि सुद्ध॥ —सरह

शून्य—सिद्धों ने शून्य को सर्वव्यापक माना है। शून्य स्वभाव को धारण करने वाला साधक शून्य की आराधना करते हुए शून्यवत् हो जाता है। शून्य-तत्त्व वर्णहीन है, आकृतिविहीन है, उसका अपना कोई आकार नहीं है, वह शून्यता रूप में समस्त आकृतियों में व्याप्त है। न वह महान् है, न ह्रस्व है, न दीर्घ है, न लघु है, न वह लाल है, न हरा, न मजीठ, न पीला, न काला ही है। यही तत्त्व चित्त में, जगत् में, त्रिभुवन में व्याप्त है। भव उस परम'तत्त्व का केवल तरंग प्रवाह है, जो उसी में विलीन हो जाता है। इसका स्वभाव इतना गुह्य है कि कुछ स्पष्ट नहीं कहा जा सकता।[1] शून्य सर्वत्र है—

सुण्णवि अप्पा, सुण्ण जगु, घरें घरें एहु अक्खाण।
तरुअर-मूल ण जाणिआ, सरहें हि किअ वक्खाण॥—सरह

यह आत्मा भी शून्य है, संसार भी शून्य है, घर-घर में यही शून्य है। सरह कहता है कि तू मूल की बात को न जानकर किस व्याख्यान को साधने की चेष्टा कर रहा है।

सिद्ध शून्य को अनिर्वचनीय मानते हैं क्योंकि यह प्रत्येक प्रकार की द्वयता का नाश कर देता है। अद्वय की स्थिति में शून्य का वर्णन फिर कैसे सम्भव हो सकता है। शून्यता ज्ञान में चित्त का भी निषेध है और अचित्त का भी, भाव का भी और अभाव का भी, ग्राह्य का भी और ग्राहक का भी, भव का भी और निर्वाण का भी, यहाँ तक कि शून्य का भी और अशून्य का भी।[2] सरह ने कहा है—

सुण्ण निरञ्जण परम पउ, सुरणोमाअ सहाव।
भावहु चित्त स्वभावता, जउ णासिज्जइ जाव॥

इस प्रकार सिद्धों का शून्य ही निरंजन है। वही परम पद है। इस शून्य का स्वप्नोपम है। इस मार्ग पर चलने वाला साधक शून्य में ही स्थित हो जाता है। वहाँ न पाप है, न पुण्य है, बल्कि साधक का स्वभाव भी शून्य का ही प्रतिबिम्ब हो जाता है—

जिम पडिविम्ब-सहावता, तिम भाविज्जइ भाव।
सुण्ण निरञ्जण परमपउ, ण तहिं पुण्ण ण (उ) पाव।

तिलोपा के अनुसार शून्य तत्त्व उत्पाद-विहीन, आदिरहित एवं अन्तरहित और अद्वय है। शून्य तत्त्व ही चित्त में, जग में और त्रिभुवन में व्याप्त है। शून्य के समस्त गुण वज्र में हैं अतः इनके अनुसार वज्र ही शून्य है। इसीलिए इनके

---

१. हिन्दी साहित्य कोश—भाग १, पृ० ८३२
२. डॉ० धर्मवीर भारती—सिद्ध-साहित्य, पृ० १३५

सम्प्रदाय को वज्रयान के नाम से पुकारा गया।

सहज—सिद्धों ने सहज शब्द का प्रयोग शून्य के ही अर्थ में किया है। सहज भी परम तत्त्व है, शून्य भी वही है अर्थात् सहज ही शून्य है, शून्य ही सहज है। सहज की प्राप्ति पर इन्द्रियाँ विलीन हो जाती हैं, आत्म-स्वभाव विस्मृत हो जाता है।

इन्दी तत्थ विलीअ गउ, णट्ठो अप्प सहाव।
सो हलें सहजानन्द तणु, फुड पुच्छह गुरुपाव।।

सहज को जान लेने पर चित्त भी सहज हो जाता है। और इसको जाने बिना संसार में भ्रमित होते रहना पड़ता है। वहाँ न कोई गुरु है, न कोई शिष्य बल्कि सर्वत्र सहज स्वभाव का अमृत ही अमृत है—

जत्तइ चित्तउ विप्फुरइ, तत्तइ णाहु सरूअ।
अण्ण तरंग कि अण्ण जलु, भव-सम ख-सम सरूअ।
णत्तं वाए गुरु कहइ, णउ तं बुज्झइ सीस।
सहज सहावा हलें अमिअरस, कासु कहिज्जइ कीस।। —सरह

"सहज वह परमतत्त्व है, जो प्रज्ञा और उपाय के सहगमन से उत्पन्न होता है।"[१] सहज को सिद्धों ने इतना महत्त्व दिया है कि इनकी साधना की प्रत्येक वस्तु का नाम ही उन्होंने सहज दे दिया है। सहज तत्त्व, सहज ज्ञान, सहज स्वरूप, सहज सुख, सहज समाधि, सहज काया, सहज पथ आदि न जाने कितने सहज से सम्बन्धित शब्दों का प्रयोग इनके साहित्य में मिलता है।

महासुख—समरसता की स्थिति महासुख है। जैसे शून्य की व्याख्या कर सकना आसान नहीं है वैसे ही महासुख की व्याख्या करना भी कठिन है। क्योंकि यह समरस है, सहजानन्द है, न वह श्रवण से सुन पड़ता है, न नयन से दीख पड़ता है, न पवन उसे हिला पाती है, न अग्नि उसे जला पाती है, न जल-वर्षा से वह आर्द्र होता है, न वह बढ़ता है, न वह घटता है, न वह अचल है, न गतिशील है, उपनिषदों में ब्रह्म की ही भाँति उसकी नेतिपरक व्याख्या दी जा सकती है। किन्तु साथ ही वह केवल नेतिपरक नहीं है क्योंकि जिस मन में लगकर व्यक्ति मरता है, उत्पन्न होता है, बन्धन में पड़ता है, उसी में लगकर वह परम महासुख को भी सिद्ध कर लेता है।[२] इसकी स्थिति के लिए सरह कहता है कि वहाँ जाने पर मन मर जाता है—

जहि मण मरइ, पवणहो तहि लअ जाइ।
एहु सो परम महासुह, सरह कहिहउ जाइ।। —सरह

१. हिन्दी साहित्य कोश—भाग १, पृ० ८२८
२. डॉ० धर्मवीर भारती—सिद्ध-साहित्य, पृ० २३१

महासुख की सिर्फ अनुभूतिपरक व्याख्या की जा सकती है क्योंकि इसका न आदि है न अंत, वहाँ न भव है न निर्वाण, अपना-पराया भी नहीं है, बल्कि सर्वत्र महासुख ही है—

आइ ण अन्त ण मज्झ तहिं, णउ भव णउ णिव्वाण।
एहु सो परम महासुह, णउ पर णउ अप्पाण॥ —सरह

उस दशा की प्राप्ति पर मन की शंकायुक्त स्थितियाँ समाप्त हो जाती हैं, उसकी समस्त चंचलताएँ मिटकर परम सुख की अनुभूति मात्र रह जाती हैं। फिर साधक के लिए आगे-पीछे दसों दिशाओं में महासुख ही रहता है। इस तक पहुँचने के लिए उपयुक्त गुरु की आवश्यकता है क्योंकि वही शिष्य को सही दिशा दे सकता है।

सिद्धों की कुछ विशेष साधनाएँ

१. **प्रज्ञा-उपाय साधना**—महायान की 'शून्यता' और 'करुणा' को सिद्धों ने 'प्रज्ञा' और 'उपाय' के रूप में ग्रहण किया। प्रज्ञा समता है, शून्यता है तो उपाय नानात्व है। परमतत्त्व या सर्वशून्य या सहज तक पहुँचने के लिए प्रज्ञा और उपाय (प्रज्ञोपाय) का समागम आवश्यक है। क्योंकि सहज का उद्भव प्रज्ञोपाय से ही हुआ है। आगे चलकर प्रज्ञा और उपाय में स्त्री-पुरुष की भावना का समावेश हुआ और इनका स्वरूप मिथुनपरक हो गया। प्रज्ञा तथा उसके अप्रस्तुत भग के प्रतीक हैं तो उपाय तथा उसके अप्रस्तुत लिंग के प्रतीक हैं। इस प्रकार 'युगनद्ध' की कल्पना प्रकट हुई। फिर तो शक्तियों के साथ देवताओं के युगनद्ध रूप की कल्पना की जाने लगी। इस मान्यता में प्रज्ञा धर्म है और उपाय बुद्ध व उसका संग। दोनों का युगनद्ध रूप ही महासुख की प्राप्ति का माध्यम बना। इसी प्रज्ञोपाय के कारण बाद में सिद्धों की साधना भी मिथुनपरक हो गई थी।

२. **महामुद्रा साधना**—सिद्धों में महामुद्रा साधना सबसे कठिन मानी गई है। इनके अनुसार भगवती नैरात्मा ही 'महामुद्रा' है। इस साधना के लिए साधक निम्नवर्ग की स्त्री से सम्बन्ध रखता है। वह स्त्री साधक के गुरु के समक्ष महामुद्रा के रूप में उपस्थित होती है और गुरु के निर्देशानुसार साधक की सम्पूर्ण क्रियाएँ उस स्त्री के सहवास में होती हैं। इस साधना को सम्पन्न कर लेने पर साधक समस्त बाह्यानुष्ठानों से मुक्त हो जाता है। इसी साधना में निष्णात होने के बाद ही किसी की गणना सिद्धाचार्यों में होती है। महामुद्रा के लिए ही सिद्धों ने डोम्बी, चांडाली, कपाली, योगिनी, शबरी आदि कई नाम दिये हैं।

३. **बोधिचित्तसमुत्पाद**—जब भव-जाल से साधक का चित्त मुक्त हो जाता है और करुणा से समन्वित होकर साधना के लिए अग्रसर होता है तो इस अवस्था

को साधना का समुत्पाद, महारत्न, चित्त का महोदय, साधक का महोत्सव कहा जाता है। इस समुदित तथा करुणा-समन्वित चित्त' को सिद्धों ने पृथ्वी, रत्नाकर, चिन्तामणि, नौका, मेघ आदि के रूपकों से प्रकट किया है। चित्तवृत्तियों के शान्त होने को शीतल रजनी का उदय कहा है। यह 'रजनी' प्रज्ञा या शून्य की रजनी मानी गई है जिसमें महाप्रमोद कमल का खिलना बताया गया है। यही दशा बोधिसमुत्पाद की है।

४. चित्त-विशोधन—सिद्धों ने चित्त को सहज ज्ञान से शोधित करने की बात कही है। चित्तशुद्धि बिना प्रज्ञोपाय की स्थिति सम्भव नहीं है। चित्तशुद्धि के बिना मोक्ष की सिद्धि भी नहीं हो सकती। इस विशोधन प्रक्रिया से चित्त धर्मकाया में लीन हो जाता है, निःस्वभाव हो जाता है और उसे सहजकाया में अमरता प्राप्त हो जाती है। अमरता वास्तव में मरण का निषेध है और मरण केवल शून्यता के अज्ञान से होता है। सिद्धों ने परिशोधन के महत्त्व के साथ असावधानीवश होने वाली हानियों का भी उल्लेख किया गया है। जो इस क्रिया को नहीं जानता वह नष्ट हो जाता है।

५. चित्त का हनन—चित्त जो स्वभाव से चंचल है, के हनन की बात भी सिद्धों ने की है। हनन के द्वारा जब चित्त मर जाता है तो वह पवन में लीन हो जाता है। महामुद्रा की साधना के लिए इस चित्त का मारना और निर्मूल कर देना अनिवार्य है। चित्त के हनन से इनका अभिप्राय चित्त को हठयोग में प्रवृत्त करने से है।

६. पिण्ड रहस्य—सिद्धों की समस्त साधना का आधार पिण्ड है। जो कुछ इस संसार में है, इनकी दृष्टि में वह सभी शरीर में भी है। 'यत्पिण्डे तत् ब्रह्माण्डे' के अनुसार इस पिण्ड के भीतर भी ब्रह्माण्ड का निवास है। इस पिण्ड में सब की स्थिति मानकर ये शरीर-साधना को महत्त्व देते हैं जिनके अनुसार शरीर में श्वास का निरोध कर उलटी साधना से षट्चक्रादि का भेदन किया जाता है। इस शरीर को ही ये सबसे बड़ा तीर्थ मानते हैं क्योंकि इसी में महासुख की प्राप्ति हो सकती है। पिण्ड को ब्रह्माण्ड का रूप बतलाए जाने के कारण पिण्ड में भी ब्रह्माण्ड की भाँति गंगा, यमुना, सरस्वती, कैलाश, मानसरोवर, सूर्य, चन्द्र आदि की स्थिति बतलाई गई है।

सिद्धों की भाषा

संधा-भाषा—तंत्रशास्त्रियों ने अपनी भाषा को एक विशिष्ट रहस्यात्मकता प्रदान की थी। यही प्रवृत्ति सिद्धों में भी दिखाई देती है। परम्परा से बौद्धधर्म में इसे 'संधा-भाषा' कहा जाता रहा है, जबकि कुछ विद्वान् इसे संध्या-भाषा (लैंग्वेज ऑफ ट्वाइलाइट) कहना पसन्द करते हैं। संधा या संध्या शब्द यहाँ

पर किस अर्थ को प्रकट करता है इसे जानना भी जरूरी है। इस सम्बन्ध में कई मत मिलते हैं :

१. म० म० हरप्रसाद शास्त्री के अनुसार संध्या भाषा से मतलब ऐसी भाषा से है जिसका कुछ अंश समझ में आए और कुछ अस्पष्ट दिखे, पर ज्ञान के दीपक से जिसका सब कुछ स्पष्ट दिखाई दे जाए।
२. एक पंडित के अनुमान से इस शब्द का अर्थ सन्धि-देश की भाषा है। संधि-देश से उनका तात्पर्य बिहार की पूर्वी सीमा और बंगाल की पश्चिमी सीमा से है। यहाँ पर लिखी जाने के कारण यह संध्या-भाषा कहलाई।
३. अन्य विद्वानों के अनुसार जिस भाषा में किसी प्रकार की अभिसंधि, रहस्य या अभिप्राय हो वह संध्या-भाषा है। वज्रयान के सिद्धान्तों में निहित गूढ़ार्थ या व्यंजना-सम्पन्न किसी भाव को स्पष्ट करने की यह भाषा है।

डॉ० वर्मा इन तीनों मतों का खंडन करते हुए कहते हैं—"मेरे विचार से ये तीनों ही अर्थ व्यर्थ हैं। पहले अर्थ में स्पष्टता की बात भ्रामक ही है। प्रत्येक भाषा जब जन-समुदाय के उपयोग में आती है तो उसमें अनेक देशज शब्दों के मिश्रण से साहित्यिकता के नाते अस्पष्टता आ ही जाती है। इस दृष्टिकोण से उसे प्रकाश और अंधकार के मिश्रण का रूपक देना उपयुक्त ज्ञात नहीं होता। ऐसी स्थिति में 'उर्दू' जो हिन्दी में अरबी-फारसी शब्दों के मिश्रण से बनी है, साहित्यिक मापदंड के अनुसार किसी अंश तक अस्पष्ट होने के कारण, भविष्य के इतिहास में संध्या-भाषा के नाम से पुकारी जा सकती है। दूसरा अर्थ तो बिलकुल ही भ्रष्ट है। बंगाल और बिहार की सीमा तो राजनीतिक सुविधाओं के कारण आधुनिक काल में बना दी गई है। अतः यह अर्थ तो भाषा के क्षेत्र में अनर्थ ही है। आ० हजारीप्रसाद द्विवेदी भी इस मत का विरोध करते हुए कहते हैं—"यह अनुमान स्पष्ट ही बेबुनियाद है क्योंकि इसमें मान लिया गया है कि बिहार और बंगाल के आधुनिक विभाग सदा से इसी भाँति चले आ रहे हैं।"[1] तीसरा अर्थ भी ठीक नहीं है। इस दृष्टि से हिन्दी साहित्य का अधिकांश भाग जिसमें गूढ़ार्थ, व्यंजना या अभिप्राय है, संध्या-भाषा की परिभाषा में आ जायेगा।"[2]

४. डॉ० वर्मा के अनुसार—"मेरे विचार से तो संध्या-भाषा का सीधा-सादा अर्थ यही है कि वह भाषा जो अपभ्रंश के संध्याकाल या 'समाप्त होने

1. आ० हजारीप्रसाद द्विवेदी—हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० ३०
2. डॉ० रामकुमार वर्मा—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० ६१

वाले काल' में लिखी गई। सिद्धों की भाषा निश्चित रूप से अपभ्रंश के क्रोड़ से निकलती हुई जनता की आधुनिक भाषा के निर्माण में अग्रसर होती है। इसलिए इस भाषा से अपभ्रंश की अन्तिम अवस्था ज्ञात होती है। सन्ध्याकाल का प्रयोग किसी अवस्था के अन्तिम भाग की सूचना देने के लिए होता ही है, अतः इस शब्द को साधारण अर्थ में ही लेना चाहिए।"[1]

५. पं० विधुशेखर भट्टाचार्य का मत है कि यह शब्द मूलतः 'सन्धा' भाषा है और इसका अर्थ अभिसन्धिसहित या अभिप्राययुक्त भाषा है। आप 'संधा' शब्द को संस्कृत सन्धाय (=अभिप्रेत) का अपभ्रंश रूप मानते हैं।[2]

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी भी अप्रत्यक्ष रूप में इसी मत का पोषण करते हैं—"असल में, जैसा कि भट्टाचार्य महाशय ने सिद्ध कर दिया है, वेदों और उपनिषदों में से भी ऐसे उदाहरण खोजकर निकाले जा सकते हैं जबकि संधा-भाषा जैसी भाषा के प्रयोग मिल जाया करते हैं। परन्तु बौद्धधर्म की अन्तिम यात्रा के समय यह शब्द अत्यधिक प्रचलित हो गया था और जन-साधारण पर इसका प्रभाव भी बहुत अधिक था। यही कारण है कि उस युग के सभी कवि किसी-न-किसी रूप में इन विरोधाभासमूलक उलटबासियों की रचना करते रहे।"[3]

वस्तुतः उलटबासियों की प्रधानता के कारण ही सिद्धों की भाषा संधा-भाषा कहलाई। इस प्रकार की शैली का सूत्रपात वेदों-उपनिषदों में ही हो गया था जिसको परम्परागत रूप में, कुछ अपने ढंग से नया मोड़ देकर सिद्धों ने भी अपनाया था। उलटबासियों की यह शैली का प्रयोग अपनी साधना की गोपनीयता और आध्यात्मिक अनुभूतियों के प्रकाशनार्थ किया गया। अतः यहाँ उलटबासी शैली से तात्पर्य उसकी परम्परा से परिचित हो जाना जरूरी है।

उलटबासी

उलटबासी शब्द का प्रयोग आधुनिक काल में आकर ही हुआ। गोरखनाथ ने 'उलटी-चर्चा' शब्द का प्रयोग किया है—'जो पवन को उलटकर वाणी को पलट देते हैं वे ब्रह्मज्ञानी होकर अमृत का पान करते हैं।' परवर्ती सन्तों ने भी उलटी बात, उलटी गंगा, उलटी रीति आदि शब्दों का प्रयोग तो किया है पर उलटबासी का नहीं। निश्चित रूप से यह शब्द आज का ही है। सर्वप्रथम

---

१. डॉ० रामकुमार वर्मा—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० ६७
२. हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० ३० से उद्धृत
३. हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० ३०-३१

उन्नीसवीं शताब्दी में हाथरस के सन्त तुलसी साहब ने 'उलटमासी' शब्द का प्रयोग किया।

उलटवासी शब्द की व्युत्पत्ति

१. परशुराम चतुर्वेदी—"उलटबाँसी शब्द के इस अर्थ का समर्थन उसे 'उलटा' एवं 'बास' शब्द द्वारा निर्मित मानकर भी किया जा सकता है। जिस दशा में उसका ठीक-ठीक शब्दार्थ वैसी रचना के अनुसार होगा जिसका बाँस (पार्श्वभाग या अंग) उलटा या विपरीत ढंग का पाया जाय।"[1]

२. डॉ० सरनामसिंह शर्मा—"मेरी समझ में इस शब्द की दो व्युत्पत्तियाँ हो सकती हैं—एक तो 'उलटवासी' संयुक्त शब्द से और दूसरी 'उलटवास' से सम्बन्धित। पहले शब्द 'उलटवां' का अर्थ 'उलटी हुई' और 'सी' का अर्थ समान है, अतएव उलटवाँसी का अभिप्राय हुआ 'उलटी हुई प्रतीत होने वाली उक्ति'। दूसरी उलटवास शब्द से परम पद या अध्यात्मलोक में रहने वाले का निवास वास्तव में 'उलटवास' है। इससे सम्बन्धित वाणी 'उलटवासी' वाणी कहला सकती है।"[2]

डा० रमेशचन्द्र मिश्र—इनके अनुसार निम्न सम्भावनाओं के आधार पर यह शब्द विकसित हुआ कहा जा सकता है[3] :

(i) उलटवाँस से—इनकी रचनाओं में कुंडलिनी मार्ग का वर्णन 'उलट-बांस' के रूप में मिलता है।

(ii) उलट+वास से—उलटा वास करने वाले साधक के लिए।

(iii) उलट+वंशी से—उलट वंशी> उलटवंसी> उलटवाँसी (उलट-वाँसी)।

(iv) उलटवां+सी—ऐसी वाणी जो उलटी हुई-सी प्रतीत हो।

(v) उलट+वाची या उलट+वागी—परमार्थी की वार्त्ता के अर्थ में।

...रहस्य, चमत्कार या वैचित्र्य से युक्त यह शैली सिद्धों, नाथों और परवर्ती संतों द्वारा मुख्यतः आध्यात्मिक अनुभवों को प्रकट करने के लिए प्रयुक्त की गई थी। प्रतीकात्मकता के कारण इनमें प्रतिपादित साधारण विषय भी अनिर्वचनीय प्रतीत होते हैं। "उलटवाँसियाँ बहुधा अटपटी वाणियों के रूप में रची गई हैं, जिसके कारण इनके गूढ़ आशय को समझ पाने वाला, सुनकर, आश्चर्य से अवाक्

१. परशुराम चतुर्वेदी—कबीर साहित्य की परख, पृ० १५२
२. डॉ० सरनामसिंह शर्मा—कबीर : एक विवेचन, पृ० ३८२
३. डॉ० रमेशचन्द्र मिश्र—हिन्दी संतों का उलटवांसी साहित्य, पृ० ८-६

रह जाता है। गुरु की कृपा से, विचारपूर्वक संकेतों को समझ लेने पर कथन के पीछे निहित रहस्य स्वतः ही उद्भासित हो जाता है। उस समय श्रोता या पाठक को एक विशेष प्रकार की मानसिक तृप्ति का अनुभव होता है।"

उलटवासियों की शैली का सूत्रपात वेदों में ही हो गया था। वेदों की कुछ ऋचाएँ अपने विचित्र प्रतीकों के कारण अनिवार्य से दूर होकर इस शैली के अन्तर्गत आ जाती हैं—

द्यौर्मे पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्मे माता पृथिवी महीयम्
उत्तनयोश्चम्वो इयोनिरन्तरत्रा पिता दुहितुर्गर्भमाधात् ।। —ऋग्वेद

(आकाश मेरा पिता और जनयिता है। यही मेरा बन्धु और नाभि है। यह महती पृथ्वी मेरी माता है। इन दोनों के मध्य भाग में सोम पात्र के आकार की योनि फैली हुई है। उसी योनि में पिता ने पुत्री में गर्भाधान किया।)

(२) एक बैल है जिसके चार सींग हैं, तीन चरण हैं, दो सिर हैं, सात हाथ हैं और यह तीन प्रकार से बंधा हुआ उद्घोष करता है।

—ऋग्वेद

उपनिषदों में इस शैली को बल मिला और नेति-नेति की निषेधात्मक शैली में ईश्वर का वर्णन किया गया या उसकी विरोधमूलक विशेषताएँ बतलाई गई—

आसीनो दूरं व्रजति, शयानो याति सर्वतः
कस्तंमहामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति ।। —कठोपनिषद्

(वह स्थित हुआ भी दूर तक जाता है, शयन करता हुआ भी सब ओर पहुँचता है। हर्ष से युक्त, मद से रहित उस देव को मेरे सिवा कौन जानता है।)

बाद में संस्कृत में, पालि के ग्रंथों में भी इस शैली को अपनाया गया।

संस्कृत में—

उर्द्धमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्
छंदांसी यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदविद है —गीता

जिस अश्वत्थ पेड़ का मूल ऊपर और शाखाएँ नीचे हैं, जिसके पत्ते वेद हैं, जो इसे जानता है वही वेदविद् है।

हठयोग प्रदीपिका में इस शैली ने अपना वास्तविक रूप ग्रहण किया, जिसमें चमत्कार के साथ रहस्यात्मकता और आध्यात्मिकता का समावेश हुआ। सिद्धों की उलटवासियों की साधना और अभिव्यक्ति, दोनों पर इसका विशेष प्रभाव पड़ा है, इस दृष्टि से भी उसका महत्त्व है।

हठयोग प्रदीपिका—

गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिबेदमरवारुणीम्।
कुलीनं तमहं मन्ये चेतरे कुल घातकाः ।।

(जो योगी रोजाना गोमांस खाता है और अमरवारुणी पीता है वही कुलीन है, अन्य कुलघातक हैं।)

गंगयमुयोर्मध्ये वालरंडां तपस्विनीम्
वलात्कारेण गृह्णीयात्तद्विष्णोः परमपदम्

(गंगा-यमुना के मध्य जो बाल-विधवा तपस्विनी है, उसके साथ बलात्कार कर ग्रहण करने वाले को ही विष्णु का पद प्राप्त होता है।)

बौद्ध साहित्य में—

मातरं पितरं हन्त्वा राजानो द्वे च खत्तिये
रट्ठ सानुचरं हन्त्वा अनीघो याति ब्राह्मणो —धम्मपद

(माता-पिता, दो क्षत्रिय राजाओं और अनुचरों के साथ सारे राष्ट्र को मारकर ब्राह्मण निष्पाप हो जाता है।)

जैन साहित्य में—

उव्वस वसिया जो करइ, वसिया करइ जु सुराणु
वलि किज्जउ तनु जोइयहु, जासु रम पाउण पुराणु ।।—पाहुड़दोहा

(जो उजाड़ को वसाता है और बसे हुए को उजाड़ता है, हे योगी! उस व्यक्ति की वलिहारी है, उसे न पाप है, न पुण्य है।)

इस प्रकार हम देखते हैं कि सिद्धों से पूर्व ही भारतीय आध्यात्मिक अभिव्यक्तियों को प्रतीकों के माध्यम से प्रस्तुत करने की एक सुदीर्घकालीन परम्परा विद्यमान थी। सिद्धों ने जो संधा-भाषा अपनायी उसकी उचित पृष्ठभूमि पहले से ही तैयार थी। सिद्धो ने अवश्य उसे विस्तार दिया। इनकी प्रतीक-बहुलता का कारण आध्यात्मिक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के साथ परम्परा का निर्वाह भी था और सबसे अधिक अपने सिद्धान्तों को रहस्यपूर्ण और गोपनीय बनाना था। उलटवासियों के समान दृष्टकूट शैली भी उस समय और बाद में भी साहित्य के क्षेत्र में प्रचलित थी जो इस बात को स्वीकार करने के लिए बाध्य करती है कि तत्कालीन साहित्य में गोपनीयता या रहस्यात्मकता की स्थिति सर्वप्रचलित थी। इसी के मध्य से अपनी परिस्थितियों के अनुकूल सिद्धों ने अपनी प्रतीक-बहुल उलटवासी शैली का विस्तार किया।

सिद्ध साहित्य में उलटवासियाँ—बौद्ध-सिद्धों की संधा-भाषा शैली में लिखी गई वाणी को देखने से ज्ञात होता है कि ये लोग प्रतीक के माध्यम से उलटी या विरोधमूलक बात कहने के अभ्यासी हो गए थे।[2]

१. डॉ० रमेशचन्द्र मिश्र—हिन्दी सन्तों का उलटवासी साहित्य, पृ० ७८
२. डॉ० रमेशचन्द्र मिश्र की पुस्तक पर आधारित।

कुक्कुरीपा—

दुलि दुहिपिटा धरण न जाअ। रुखेर तेन्तलि कुम्भीरे खाअ
अङ्गण घरपण सुनभोविआती। कानेट चौरी निल अधराती

(कच्छपी अपनी पृष्ठ भाग से दुही जाती है पर उसको ग्रहण नहीं किया जाता। मगर के द्वारा वृक्ष की इमली खायी जाती है। अरे, यह विज्ञप्ति सुनो, घर में प्रवेश करके कर्णपीठ को अर्द्धरात्रि में चोर लाओ।)

कुण्डरीपा—

जोइन तँइ बिनु खणिहि न जीवमि। तो मुह चुम्बी कमलरस पीवमि।

हे योगिनी! तेरे बिना मैं क्षण-भर भी जीवित नहीं रहूँगा, तेरे मुख को चूमकर कमल-रस का पान करूँगा।)

कृष्णचर्यापाद—

मारिअ सासु नणन्द घरे शाली। माअ मारिअ कान्ह भइल कबाली॥

(सास और माता को मारकर, ननद और साली को घर में रखकर कान्हपा कापालिक हो गए।)

डोम्बीपा—

गंगा जमुना माझेरे वहइ नाइ। तहिं बुड़िली मातङ्गी पोइला लीले पार कोई।

(गंगा-यमुना के बीच नौका संचरित हो रही है। उसमें डूबकर मातंग पोतिका लीलापूर्वक उतरती है।)

सरहपाद—

बद्धो धावइ दस दिसाहि, मुक्को णिच्चल ठ्‌अ।

(बँधा हुआ व्यक्ति दसों दिशाओं में भागता है और मुक्त पुरुष निश्चल हो स्थित रहता है।)

ढेण्डनपाद—

बलद बिआअल गविआ बाँझे। पिटा दुहिअइ एतिना साँझे।
जो सो बुधी सोइ निबुधि। जो सो चोर सोइ साधी।
निति निति सिआला सिहे समजुज्झअ। ढेण्डणपाएर गीत बिरले बुज्झअ

(बैल जन्म देता है और गाय वन्ध्या है, पृष्ठभाग से संध्या पर्यन्त दोहन क्रिया होती है। जो बुद्धिमान है वही मूर्ख है और जो चोर है वही साधु है। शृगाल नित्य-प्रति शेर से जूझता है, ढेण्डणपाद इस गीत को कोई विरला ही बूझता है।)

शबरपा—

महासुखे विलसन्ति शबरो लइआ सुणमेहेली।

(शून्य महिला को ग्रहण करके शबर महासुख में क्रीड़ा कर रहा है।)

डॉ० धर्मवीर भारती के अनुसार इन उलटवाँसियों का मुख्य उद्देश्य जनता को चमत्कृत करना और आकर्षित करना प्रतीत होता है। यह भी धर्म-प्रचार का ही एक ढंग था और उसी परम्परा में था जिसमें अन्य सभी शैलीगत तत्त्व उपाय-कौशल पारमिता के अन्तर्गत धर्म-प्रचार के साधन मान लिए गए। यही काव्य पद्धति परवर्ती नाथ तथा सन्त सम्प्रदायों में भी अपनायी गई जिसके कारण आज भी उनके काव्य को शुद्ध लौकिक काव्यशास्त्र की कसौटी पर कसना कठिन प्रतीत होता है।

सिद्धों की भाषा को प्रान्तीयता के मोह में बंगला, मैथिली, उड़िया, असमिया, मागधी आदि विविध रूपों में देखा गया है। डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी ने इस भाषा को शौरसेनी अपभ्रंश बतलाया है। वैसे अधिकांश विद्वान् इस भाषा को अपभ्रंश की अपेक्षा नवीन युग की भाषा कहते हैं। राहुल जी के अनुसार इन सारी बातों को देखने से पता चलता है कि 'सरह जिस भाषा के आदि कवि हैं, वह कई दृष्टियों से एक नये युग की भाषा है।' सिद्धों ने जनसाधारण की भाषा को अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया था। इसका कारण उनकी लोकरुचि ही अधिक था। इस प्रवृत्ति ने ही उनकी भाषा को अपभ्रंश से इतर अन्य भाषा का स्वरूप प्रदान कराया— 'सिद्धों की भाषा जनसमुदाय की भाषा का आश्रय लेकर अपभ्रंश की उस अवस्था का संकेत करती है जिसमें आधुनिक भाषा के चिह्न विकसित होने लगे थे।''[१]

इनकी भाषा की कतिपय विशेषताएँ निम्न प्रकार है:

द्वयार्थक प्रकृति—सिद्धों ने प्रज्ञोपाय की साधना को अपनाकर रचनाएं की है, इसलिए क्रमशः उन पर स्त्री और पुरुष प्रतीकों का आरोपण किया गया, जिससे उनकी रचनाएँ बाहर से लौकिक शृङ्गार से सम्बन्धित दिखाई देते हुए भी वास्तविक रूप में वैसी नहीं है। इनकी भाषा की यह द्वयार्थक प्रकृति सर्वत्र दिखाई पड़ती है। "इनमें अर्थ की द्विधा निहित है। एक अर्थ सामान्य या साधारण होता है जिसे अभिधेयात्मक कह सकते हैं। दूसरा अर्थ प्रतीकात्मक या लक्षणा-मूलक होता है।"[२] डॉ० धर्मवीर भारती के शब्दों में 'शब्दों की द्वयार्थक प्रकृति का परिचय संधाभाषा में भी मिलता है।'

प्रतीक-बहुला—उलटवासियों की चर्चा में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि इन्होंने अपनी साधना को गोपनीय रखने के लिए विशिष्ट प्रतीकों के माध्यम से अपनी अनुभूतियों को अभिव्यक्ति दी है। प्रतीकों को जाने बिना इनके मूल कथन को नहीं जाना जा सकता है। बल्कि उनके पदों का अभिधार्थ अत्यंत घृणित

१. डॉ० रामकुमार वर्मा—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० ६५
२. डा० दयानन्द श्रीवास्तव—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ५५

भी प्रतीत होता है किन्तु प्रतीकों की जानकारी के बाद वास्तविक अर्थ प्रकट हो जाता है। "पदों की योजना इस प्रकार की है, कि ऊपर से उससे कुत्सित लोक-विरुद्ध अर्थ प्रकट हो, या परस्पर-विरोधी अनर्थक बातें प्रतीत हों, किन्तु साधना के रहस्यात्मक शब्दों की जानकारी प्राप्त होने पर विशुद्ध अर्थ स्पष्ट हो जाता है।"[1] उपमाओं, उत्प्रेक्षाओं, रूपकों के प्रति इनका विशेष आग्रह रहा है। इनके माध्यम से इन्होंने अपनी अभिव्यंजनाएँ प्रस्तुत की हैं ' इसलिए इनकी साधना, साहित्य और मान्यताओं को समझने के लिए पहले प्रतीकात्मक शब्दावली की जानकारी आवश्यक है। 'अपनी अनुभूतियों, चिन्तन-रेखाओं तथा साधना-स्वरूप को व्यक्त करने के लिए इस धारा के साधकों ने कुछ प्रतीकों और पारिभाषिक शब्दों का व्यवहार किया है।"[2]

सहज अभिव्यक्ति—अपनी बात को सिद्धों ने सीधी-सच्ची भाषा में प्रस्तुत किया है। भाषा में सर्वत्र सहजता-सरलता विद्यमान है। अलंकारों का मोह इन्हें नहीं है और अभिव्यक्ति के लिए बनावटी आकर्षणों की परवाह भी इन्हें नहीं है। हाँ, उलटवासियों के माध्यम से इन्होंने साम्प्रदायिक वैचित्र्य का प्रदर्शन अवश्य किया है।

भाषा की एकरूपता का अभाव—समस्त सिद्धों की भाषा में एकरूपता का अभाव है, बल्कि उसमें देश और काल के अंतर से यथेष्ट भिन्नता दिखाई देती है। वास्तव में सिद्धों की भाषा का स्वरूप इतना सरल नहीं कि उस पर इस प्रकार के एकांगी निर्णय दिये जा सकें। इसका सर्वप्रधान कारण यह है कि सिद्धों के दोहों और चर्यागीतों तथा उसी परम्परा में आने वाले डाकार्णव और साधनमाला की वज्रगीतियों में सभी स्थलों में भाषा का रूप एक-सा नहीं है।[3] एक ही कवि सरहपाद के पूर्ववर्ती और परवर्ती कालों के साहित्य की भाषा में पर्याप्त अन्तर है। इस दृष्टि से उनकी भाषा का एक समन्वित रूप दिखाई नहीं पड़ता। अपने आप में यह विशिष्टता होते हुए भी साहित्य में अध्येता के मार्ग की एक बहुत बड़ी रुकावट है।

छन्द-योजना

सिद्धों ने भाषा के समान ही छन्दों के प्रयोग की दृष्टि से अपूर्वता का परिचय दिया। इन्होंने जिन दोहा-चौपाई आदि छन्दों का प्रयोग किया है वे हमें परवर्ती प्राकृत आदि में दिखाई नहीं पड़ते। इस प्रकार सरहपाद नई भाषा

---

१. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी—हिन्दी साहित्य, पृ० २३
२. डॉ० रामानन्द श्रीवास्तव—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० २२
३. डॉ० धर्मवीर भारती—सिद्ध साहित्य, पृ० २२६

और नये छन्दों के युग के आदि कवि हैं।[1] सिद्धों का साहित्य मुख्यतः दोहाकोशों या चर्यागीतियों में प्राप्त होता है। दोहाकोश का मुख्य छंद दोहा है।

'णउ-णउ दोहाच्छन्दे कहवि न किम्पि गोप्प' —सरह

दोहा अपभ्रंश का प्रिय छंद है। उस समय जैसे 'गाथा' कहने से प्राकृत का बोध होता था वैसे ही 'दोहा' या दूहा कहने से अपभ्रंश या प्रचलित काव्य-भाषा का बोध होता था।[2] दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी में यह छंद सर्वाधिक प्रचलित छद था। दोहा छंद को अपनाने का सीधा-सा कारण यह है कि ये कवि साधारण जनता को आकर्षित करना चाहते थे। आकार में छोटा और शीघ्रता से जन-मन-मन्दिर में पैठने की प्रवृत्ति के कारण यह छन्द इनके लिए सर्वाधिक उपयोगी सिद्ध हो सकता था।

दोहे के अतिरिक्त सोरठा, चौपाई इत्यादि छन्दों का प्रयोग भी इन्होंने किया है। 'सिद्ध कवियों के लिए दोहा बहुत प्रिय छंद रहा है। यह अधिकतर सिद्धान्त-प्रतिपादन के लिए प्रयुक्त हुआ है। जहाँ वर्णन-विस्तार है वहाँ चौपाई छंद है। यों कहीं-कहीं सोरठा और छप्पय भी है, किन्तु दोहे का प्राधान्य सर्वत्र है।'[3]

चर्यापद गीत-बहुल हैं। इनके छंद भी दोहाकोशों की भांति अधिकांशतः मात्रिक छंद ही हैं। "चर्यापदों के छन्द भी मात्रिक हैं जिनमें पादाकुलक की ही प्रधानता है।"[4] लेकिन चर्यागीतियों में पज्झटिका, पद्धड़िया, चउपई आदि अन्य छन्द भी प्रयुक्त हुए हैं। इन गीतियों की एक विशेषता यह है कि ये सभी गेय है और इनमें प्रत्येक पद के साथ उसकी रागिनी का नाम भी मिलता है। खोज करने से पता चलता है कि ये राग वस्तुतः विभिन्न प्रान्तों और जातियों में प्रचलित थे।

नाथ साहित्य

गोरखनाथ ने इस सम्प्रदाय को एक सुव्यवस्थित स्वरूप दिया था, इसकी चर्चा पहले हो चुकी है। इस सम्प्रदाय को अपने साहित्य से समुन्नत करने का कार्य भी उन्हीं के द्वारा सम्पन्न हुआ। यद्यपि परम्पराएँ गोरखनाथ से पूर्व भी नाथ सम्प्रदाय के अस्तित्व का संकेत देती हैं तथापि इनके महत्त्व को झुठलाया नहीं जा सकता है। नाथ-सम्प्रदाय के बारे में कोई निश्चित बात नहीं कही जा

---

१. राहुल सांकृत्यायन—दोहाकोश, पृ० ६
२. आ० रामचन्द्र शुक्ल—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ७
३. डॉ० रामकुमार वर्मा—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० ६८
४. डॉ० धर्मवीर भारती—सिद्ध साहित्य, पृ० २६७

सकती क्योंकि प्रायः सभी नाथों के नाम के साथ विविध और परस्पर-विरोधी किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं और इससे इस सम्प्रदाय का स्वरूप धूमिल हो गया है। साहित्य की स्थिति भी कुछ अधिक स्पष्ट नहीं है। फिर भी इतना निश्चित है कि एक प्रकार से समस्त नाथ-सम्प्रदाय केवल गोरखनाथ के साहित्य पर अवलम्बित है। स्वर्गीय पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने गोरखबानी के नाम से हिन्दी में मिलने वाले उनके साहित्य का प्रकाशन भी किया था। उन्हीं के अनुसार गोरखनाथ की लगभग चालीस पुस्तकों का उल्लेख मिलता है। इसके अतिरिक्त संस्कृत में लिखा उनका साहित्य तो है ही। इनमें से बड़थ्वाल जी ने निम्न १४ पुस्तकों को प्रामाणिक माना है :

१. सबदी	८. पंद्रह तिथि
२. पद	९. सप्तवार
३. सिष्या दरसन	१०. मछींद्र गोरखबोध
४. प्राण संकली	११. रोमवली
५. नरवै बोध	१२. ग्यान तिलक
६. आतमबोध	१३. पंच मात्रा
७. अभैमात्रा जोग	१४. ज्ञान चौंतीसा[1]

किन्तु स्वयं बड़थ्वाल जी इनके प्राचीन रूप से पूरी तरह आश्वस्त नहीं थे, तभी तो उन्हें लिखना पड़ा कि "एक ओर तो नाथ गुरुओं की बानी के प्रति उनके शिष्यों में जो प्रगाढ़ श्रद्धा और विश्वास की भावना होती है, वह उसे नष्ट होने से बचाती है और दूसरी ओर स्मृति के कारण उनमें कुछ परिवर्तन या छूट हो जाती है तथा साम्प्रदायिक उद्देश्य और मत-विकास या परिवर्तन या स्पष्टीकरण की अभिलाषा गुरुओं के नाम से नई रचनाओं के गढ़े जाने और पुरानी रचनाओं में परिवर्द्धन या परिवर्तन का कारण होती है।"[2] और भी "ये रचनाएँ जैसी हमें उपलब्ध हो रही हैं, ठीक वैसी ही उस समय की हैं, यह नहीं कहा जा सकता।"[3] इसलिए इन ग्रन्थों की प्रामाणिकता के बारे में अधिक नहीं कहा जा सकता। वैसे भी गोरखनाथ के नाम पर मिलने वाली पुस्तकों में वैचारिक सामंजस्य और भाषागत एकरूपता के दर्शन नहीं होते और विद्वानों को सन्देह है कि ये पुस्तकें इतनी पुरानी अर्थात्—ग्यारहवीं शती के लगभग की हैं। द्विवेदी जी के अनुसार "सही बात यह है कि गोरखनाथ के नाम पर प्रचलित हिन्दी-संस्कृत ग्रन्थों की प्रामाणिकता के बारे में कुछ भी कहना कठिन है। हिन्दी रचनाओं

१. (क) डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल—गोरखबानी
(ख) इनमें से अंतिम (ज्ञान चौंतीसा) का प्रकाशन बाद में हुआ था।
२. डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल—गोरखबानी, पृ० १६
३. वही, पृ० २०

की जो प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं वे बहुत पुरानी नहीं हैं और अधिकांश निश्चित रूप से परवर्ती हैं।[1]

गोरखनाथ के अलावा अन्य नाथों का साहित्य भी मिलता है पर वह उतना व्यवस्थित और महत्त्वपूर्ण नहीं है। गोरख के सिद्धान्त ही इस सम्प्रदाय की मूल पीठिका हैं।

विषय—इस साहित्य में मूलतः योगियों के लिए उपदेश दिये गए हैं। लेकिन प्रसंगवश इसमें नीति, सामाजिक आचार, हठयोग की साधना, संसार की निस्सारता, साधना मार्ग का महत्त्व, उसकी वक्रता और गुरु का महत्त्व आदि विषयों का उल्लेख भी मिलता है। गोरख ने लौकिक विषयों से अपने मन को हटाकर अन्तस्साधना पर बल दिया है जिसके अंतर्गत प्राण-साधना का वर्णन विस्तार से हुआ है। षट्चक्रभेदन के द्वारा शिव और शक्ति का संगम और अमृतरस के पान की चर्चा ही विस्तार से हुई है। किन्तु अंतर्जगत् में केन्द्रस्थ होने के लिए पहले बहिर्जगत् से ध्यान हटाना जरूरी है। संसार का आकर्षण व्यक्ति के लिए प्रबल रहता है। इसलिए संसार से वीतराग होने का उपदेश दिया गया है। वैराग्य को साधना का प्रथम सोपान कहा गया। संसार के अलावा इन्द्रियाँ भी साधना-मार्ग की प्रमुख बाधाएँ हैं। इन्द्रिय-निग्रह पर गोरख ने अत्यधिक बल दिया है—

भोगिया सूते अजहूँ न जागे
भोग नहीं रे रोग अभागे
भोगिया कहै भल भोग हमारा
मनसइ नारि किया तन छारा

नारी, साधना-मार्ग में कई रूपों में बाधक सिद्ध हुई इसलिए उसका खुला विरोध किया गया। वैसे भी गोरख के समक्ष सिद्धों की हीन दशा थी। 'भोग में निर्वाण' की बात करने वाले भोग में ही भटक गए, निर्वाण नहीं पा सके। 'कहा गया है कि मानसिक दृढ़ता के रहते कोई भी विघ्न योगी को विचलित नहीं कर सकता। काम और क्रोध में मन आसक्त न हो और चित्त की शिथिलता उसे बहकने न दे, तो हँसने-खेलने वालों से नाथ जी प्रसन्न ही होते हैं और ऐसे योगी के लिए लाखों अप्सराएँ भी विघ्न उपस्थित नहीं कर पातीं।' इस प्रकार सहज-जीवन के लिए बहुत जोर दिया गया है। इसी उपदेश प्रणाली और विषय पर परवर्ती कबीर इत्यादि सन्तों ने अपना साहित्य लिखा है। इस दृष्टि से नाथ साहित्य का विशेष महत्त्व है।

---

१. आ० हजारीप्रसाद द्विवेदी—हिन्दी साहित्य, पृ० ३४

इस साहित्य का प्रतिपादन लौकिक भाषा में ही हुआ है, यहाँ तक कि गोरख की अनेक उक्तियों ने लोकोक्ति का रूप धारण कर लिया है जैसे—

अवधू मन चंगा तौ कठौती ही गंगा
बांध्या मेल्हा तौ जगत्र चेला[1]

इस साहित्य में सौंदर्य और माधुर्य का अभाव है बल्कि इस साहित्य पर शुक्लजी ने शुष्कता और नीरसता का जो आरोप लगाया था वह बहुत कुछ उचित ही है। द्विवेदी जी के शब्दों में—"इस साहित्य की सबसे बड़ी कमजोरी इसका रूखापन और गृहस्थ के प्रति अनादर का भाव है। इसी ने इस साहित्य को नीरस, लोक-विशिष्ट और क्षयिष्णु बना दिया था।"[2] लेकिन इन दोषों के कारण इस साहित्य को छोड़ा नहीं जा सकता क्योंकि द्विवेदी जी के ही शब्दों में—"परवर्ती हिन्दी साहित्य में चरित्रगत दृढ़ता, आचरण-शुद्धि और मानसिक पवित्रता का जो स्वर सुनाई पड़ता है, उसका श्रेय इस साहित्य को ही है।"[3]

नाथ-सम्प्रदाय

नाथ सम्प्रदाय का साहित्य आदिकाल की उत्तरावस्था में प्रधान रूप में हमारे सामने उपस्थित होता है। इसके प्रवर्त्तक आचार्य गोरखनाथ कहे जाते हैं। यद्यपि नाथों की शिष्य-परम्परा में शिव को ही आदिनाथ कहकर पुकारा गया है तथापि इसके आदि पुरस्कर्ता गोरखनाथ ही हैं। जनश्रुतियाँ शिव के बाद मत्स्येन्द्रनाथ का नाम भी इस सम्बन्ध में गिनाती हैं। उनके अनुसार शिव जब इस ज्ञान का उपदेश पार्वती को दे रहे थे तो मत्स्य रूप में छुपकर इस ज्ञान को मत्स्येन्द्रनाथ ने प्राप्त कर लिया था। उन्होंने इसे गोरखनाथ को दिया। इस प्रकार शिव के बाद और गोरखनाथ से पहले मत्स्येन्द्रनाथ का नाम भी लिया जाता है। लेकिन मत्स्येन्द्रनाथ के किसी अन्य सम्प्रदाय में फँस जाने की चर्चा प्राप्त होती है जहां से उनका उद्धार गोरखनाथ ने ही किया था। इस बात में कोई सन्देह नहीं कि नाथ-सम्प्रदाय को व्यवस्थित और व्यापक स्वरूप गोरखनाथ ने ही प्रदान किया था। "शंकराचार्य के बाद इतना प्रभावशाली और इतना महिमान्वित महापुरुष भारतवर्ष में दूसरा नहीं हुआ। भक्ति आन्दोलन से पूर्व सबसे शक्तिशाली आन्दोलन गोरखनाथ का योगमार्ग ही था।'[4]

---

१. गोरखबानी, पृ० ५३
२. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी—हिन्दी साहित्य, पृ० ३७
३. वही, पृ० ३७
४. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी—नाथ सम्प्रदाय, पृ० ९६

नाथ शब्द का अभिप्राय

'अथर्ववेद' और 'तैत्तिरीय ब्राह्मण' में नाथ शब्द का प्रयोग 'रक्षक' या 'शरणदाता' के अर्थ में मिलता है। 'महाभारत' में 'स्वामी' या 'पति' के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग हुआ है। 'बोधिचर्यावतार' में बुद्ध के लिए इस शब्द का व्यवहार हुआ है। जैनों और वैष्णवों में भी इस शब्द का प्रयोग सबसे बड़े देवता के अर्थ में हुआ है। किन्तु परवर्ती काल में योगपरक पाशुपत शैवमत का विकास नाथ सम्प्रदाय के रूप में हुआ और 'नाथ' शब्द 'शिव' के लिए प्रचलित हो गया।[1]

इस सम्प्रदाय के अनुसार 'नाथ' शब्द की व्याख्या इस प्रकार की गई है—

नाकारोऽनादि रूपं थकारः स्थाप्यते सदा
भुवनत्रमेकैव श्री गोरक्ष नमोऽस्तुते —राजगुह्य

अर्थात् 'ना' का अर्थ है अनादि रूप और 'थ' का अर्थ है स्थापित होना। 'इस प्रकार नाथ मत का स्पष्टार्थ वह अनादि धर्म है जो भुवनत्रय की स्थिति का कारण है। श्री गोरक्ष को इसीलिए 'नाथ' कहा जाता है।[2] एक और प्रकार से नाथ शब्द की व्याख्या की गई है जिसमें—

ना=नाथ ब्रह्म (जो मोक्ष दान करता है)
थ=स्थगित करना (अज्ञान के सामर्थ्य को स्थगित करना)
नाथ=जो अज्ञान को दूर कर मोक्ष को दिलाता है।

श्री मोक्षदानदक्षत्वात् नाथ ब्रह्मानुबोधनात्
स्थगिता ज्ञान विभवात् श्री नाथ इति गीयते॥ (शक्ति संगम तंत्र)

चूंकि नाथ के आश्रयण से इस नाथ ब्रह्म का साक्षात्कार होता है और अज्ञान की माया अवरुद्ध होती है, इसलिए नाथ शब्द का व्यवहार किया जाता है।[3]

इस व्युत्पत्ति के अनुसार मूलतः नाथ शब्द मुक्तिदान के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है और नाथ सम्प्रदाय वह सम्प्रदाय है जो अज्ञान के अन्धकार को दूर कर संसार के बन्धनों से मनुष्य को मुक्त कराने में समर्थ होता है।

नाथ सम्प्रदाय का विकास

नाथ सम्प्रदाय को अधिकांश विद्वान् वज्रयानी सिद्धों का ही विकसित रूप मानते हैं। "गोरखनाथ के नाथपंथ का मूल भी बौद्धों की यही वज्रयान शाखा है।"[4] इस धारणा के दो कारण मुख्य हैं। पहला कारण तो यह है कि सिद्धों की

---

१. हिन्दी साहित्य कोश—भाग १, पृ० ४२५
२. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी—नाथ सम्प्रदाय, पृ० ३
३. वही, पृ० ३
४. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० १६

'सहज' भावना को ही नाथ सम्प्रदाय में व्यापक रूप में प्रस्तुत किया गया। उन्होंने जीवन की जटिलताओं को छोड़ सहज स्वाभाविक जीवन-यापन पर बल दिया था। यह कहने में कोई संकोच नहीं होना चाहिए कि आगे चलकर इसी भावना को गोरखनाथ ने अधिक व्यापक स्तर पर ग्रहण किया था। "इस प्रकार नाथ सम्प्रदाय को सिद्ध सम्प्रदाय का विकसित और शक्तिशाली रूप ही समझना चाहिए। सिद्धों की विचारधारा और उनके रूपकों को लेकर ही नाथ-वर्ग ने उनमें नवीन विचारों की प्रतिष्ठा की और उनकी व्यंजना में अनेक तत्त्वों का सन्निवेश किया।"[1] इसलिए सिद्धों का विकास ज्यों बौद्धधर्म की महायान शाखा से बताया गया है, उसी विकासमान धारा में इस मत के पोषक सिद्धों के बाद नाथों को स्थान देते हैं। "इसी भाँति मन्त्रयान से वज्रयान, वज्रयान से सहजयान और सहजयान से नाथ सम्प्रदाय की विकासोन्मुख परम्परा समझनी चाहिए।"[2]

नाथों को सिद्धों का विकसित रूप स्वीकार करने का एक अन्य कारण इनकी सूचियाँ हैं। सिद्धों की सूची में मत्स्येन्द्रनाथ (मीनपा), गोरक्षनाथ (गोरक्षपा) आदि का नाम भी मिलता है। चौरासी सिद्धों की सूची में नाथों के नाम भी मिलते हैं। नाथों में भी सिद्धों की सूची मिलती है जिसमें मीननाथ को आदि सिद्ध स्वीकार किया गया है। दोनों सूचियों के मिले-जुले नाम दोनों के एक होने की गवाही देते हैं। इसी आधार पर कुछ विद्वान् सिद्धों की विकास-परम्परा में ही नाथों को देखना चाहते हैं। "गोरखनाथ के नाथपंथ का मूल भी बौद्धों की यही वज्रयान शाखा है। चौरासी सिद्धों में गोरखनाथ (गोरक्षपा) भी गिन लिए गए हैं। पर यह स्पष्ट है कि उन्होंने अपना मार्ग अलग कर लिया।"[3]

अब यह प्रश्न खड़ा होता है कि जब गोरखनाथ की विचारधारा सिद्धों से ही पनपी है तो उन्होंने अपने सम्प्रदाय को अलग क्यों किया? इसके उत्तर में विद्वानों ने सिद्धों की अश्लीलता और व्यभिचार को दोषी ठहराया है। सहज जीवन के पक्षपाती होते हुए भी सिद्ध लोग एक प्रकार से भोग में ही 'निर्वाण' की भावना के शिकार थे। यद्यपि उनकी 'प्रज्ञोपाय' की भावना के पीछे एक सुनिश्चित दार्शनिक आधार विद्यमान था तथापि जब से प्रज्ञा और उपाय को क्रमशः स्त्री और पुरुष वाची मानकर 'युगनद्ध' के रूप में उनकी कल्पना की गई तब से उनमें अश्लीलता और व्यभिचार ने भी घर कर लिया था। प्रत्येक

---

१. डॉ० रामकुमार वर्मा—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० १४३
२. वही, पृ० १४४
३. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० १६-१७

देवता को उनकी शक्ति के साथ 'युगनद्ध' रूप में कल्पित किया गया। इसी प्रकार महामुद्रा या योगिनी का सहवास भी अनिवार्य हो गया। तात्पर्य यह है कि सिद्धों में पापाचार अपनी चरम सीमा पर व्याप चुका था। इसलिए उनसे असहमति प्रकट करते हुए संयम और सदाचार को महत्त्व देते हुए गोरखनाथ ने अपने स्वतन्त्र पंथ का प्रवर्त्तन किया। "योगियों की इस हिन्दू शाखा ने वज्रयानियों के अश्लील और बीभत्स विधानों से अपने को अलग रखा।"[१]

लेकिन कुछ विद्वान् इस सम्प्रदाय का सम्बन्ध बौद्धों की अपेक्षा शैवों से जोड़ते हैं। "परन्तु अपने मूल रूप में यह शैव दर्शन से विकसित लगता है। सायणमाधव के 'सर्वदर्शन संग्रह' में इस तथ्य की ओर संकेत किया गया है।"[२] शैव सम्प्रदाय से इसका सम्बन्ध होने का ठोस आधार शिव की आदिनाथ के रूप मे परिकल्पना है। इस सम्प्रदाय के अनुसार सारे संसार की संरक्षा करने वाले, समस्त तत्त्वों के निर्माता और आत्मतेज से देदीप्यमान रहने वाले शिव ही इसके आदिनाथ हैं—

देदीप्यमानस्तत्त्वस्य कर्ता साक्षात् स्वयं शिवः
संरक्षन्तो विश्वमेव धीराः सिद्धमताश्रयाः —सिद्ध सिद्धान्त पद्धति

"और मूलतः समग्र नाथ सम्प्रदाय शैव है। सबके मूल उपास्य देवता शिव हैं।"[३] नाथों ने कौलाचार तक को अपने ही आचार्यों से प्रकट किया गया पथ बतलाया है। दार्शनिक दृष्टि से नाथों का सम्बन्ध शैवों के साथ ही ठहरता है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का दावा है कि नाथ सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक गोरखनाथ का जन्म ब्राह्मण कुल में हुआ था और उनको जो वातावरण मिला था वह निस्सन्देह ब्राह्मण वातावरण ही था। इसलिए बौद्धों की परम्परा में उनको बतलाना गलत है। "मेरा अनुमान है कि गोरखनाथ निश्चित रूप से ब्राह्मण जाति में उत्पन्न हुए थे और ब्राह्मण वातावरण में बड़े हुए थे। उनके गुरु मत्स्येन्द्रनाथ भी शायद ही कभी बौद्ध रहे हों।"[४]

नाथ सम्प्रदाय के ग्रन्थ भी इस सम्प्रदाय के वज्रयान से विकसित होने के विरोध में प्रमाण देते हैं। इनको देखने पर इस सम्प्रदाय पर कौलों का, पतंजलि के हठयोग का, रसायन का प्रभाव अधिक परिलक्षित होता है। संभवतः वज्रयानी सिद्धों की शब्दावली और हठयोगिक साधना की समानता को देखते हुए नाथ-सम्प्रदाय को वज्रयान के आगे की कड़ी मान लिया गया हो अन्यथा गोरखनाथ

---

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० १७
२. डॉ० दयानन्द श्रीवास्तव—हिन्दी साहित्य, पृ० १५८
३. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी—नाथ सम्प्रदाय, पृ० ३
४. वही, पृ० ६७

के जीवन चरित्र से, इनके ग्रन्थों से और अन्य प्रमाणों से नाथ-सम्प्रदाय शैव मत और पतंजलि के योग मत के अधिक निकट ठहरता है, बौद्धों के वज्रयान के नहीं। "गोरखनाथ धर्म की जिस शाखा विशेष के प्रवर्तक माने जाते हैं वह शाखा दार्शनिकता की दृष्टि से तो शैव मत के अन्तर्गत है और व्यावहारिकता की दृष्टि से पतंजलि के हठयोग से सम्बन्ध रखती है।"[1]

नाथों का समय

नाथों के अभ्युदय का ठीक पता नहीं चलता। इनके साहित्य में इस संबंध में कोई अंतर्साक्ष्य प्राप्त नहीं होता। इसलिए विद्वानों ने अपुष्ट प्रमाणों और किंवदन्तियों के आधार पर विविध सुझाव प्रस्तुत किए हैं, जिनके अनुसार इस सम्प्रदाय का उदयकाल नवीं ईस्वी शताब्दी के लगभग से माना जा सकता है। ,गोरखनाथ, जालन्धरनाथ और 'कृष्णपाद' समसामयिक बतलाए गए हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी नवीं शताब्दी के मध्य भाग में ही इनका समय मानते हैं। वैसे गोरखनाथ का समय अलग-अलग विद्वानों ने नवीं से तेरहवीं शताब्दी तक बतलाया है। कोई इससे पूर्व छठी शताब्दी में ही इनकी स्थिति मानते हैं। कुछ के सुझाव इस प्रकार हैं—डॉ० शाहीदुल्ला (सं० ७२२), राहुल सांकृत्यायन (सं० ९०२), डॉ० मोहनसिंह (विक्रम की नवीं-दसवीं शताब्दी), डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल (सं० १०५०), डॉ० फर्कुहार (सं० १२५७), डॉ० प्रबोधचन्द्र बागची (वाग्भट्ट में 'रसरत्न समुच्चय' के रचनाकाल के आधार पर, छठी शताब्दी), डॉ० भण्डारकर (बारहवीं शताब्दी), डॉ० रामकुमार वर्मा (तेरहवीं शताब्दी)।

इसलिए इस सम्बन्ध में कोई निश्चित बात नहीं कही जा सकती कि नाथ सम्प्रदाय का आविर्भाव कब से हुआ। फिर भी नवीं-दसवीं शताब्दी के लगभग से इसके प्रादुर्भाव को मानने वाले विद्वान् अधिक हैं। तब से लेकर अप्रकट रूप में यह सम्प्रदाय आज तक विकसित है। राजस्थान, पंजाब आदि प्रदेशों में ये नाथ आज भी देखे जा सकते हैं।

नाथों की संख्या

प्राचीन काल से ही भारत में विविध सम्प्रदायों के अतिप्रसिद्ध आचार्यों की एक विशिष्ट संख्या बतलाई जाती रही है, जिनके अनुसार लोक में सिद्धों की संख्या ८४ और नाथों की संख्या नौ मानी गई है। "जिस प्रकार सिद्धों की संख्या चौरासी प्रसिद्ध है उसी प्रकार नाथों की संख्या नौ। अब भी लोग नवनाथ और

१. डॉ० रामकुमार वर्मा—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० १५३

चौरासी सिद्ध कहते सुने जाते हैं।"[1] परवर्ती कवियों ने भी 'चौरासी सिद्ध' और 'नवनाथ' की ओर संकेत किया है।

'सिघ चउरासीह माइआ महि खेला।'—कबीर

'नावै नाथ सूरज अरु चन्दा।'—कबीर

इन नवनाथों में निम्नलिखित व्यक्तियों की गणना की जाती है :

१. आदिनाथ	४. गाहिणीनाथ (गैनी)	७. ज्वालेन्द्रनाथ
२. मत्स्येन्द्रनाथ	५. चर्पटनाथ	८. भर्तृनाथ
३. गोरखनाथ	६. चौरंगीनाथ	९. गोपीचन्दनाथ

लेकिन अलग-अलग ग्रंथों में नाथों के अलग-अलग नाम गिनाए जाते हैं। कुछ सूचियों में यह परम्परा इस प्रकार बतलाई गई है—आदिनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ, गोरक्षनाथ, गाहिनीनाथ (गैनीनाथ), निवृत्तिनाथ, ज्ञाननाथ आदि। 'हठयोग प्रदीपिका' में कई नाथों के नाम दिए गए हैं—आदिनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ, सारदानन्द, भैरव चौरंगी, मीननाथ, गोरक्षनाथ, विरूपाक्ष, विलेशय, मन्थान भैरव, सिद्धबोध, कन्हड़ीनाथ, कोरण्टकनाथ, सुरानन्द, सिद्धपाद, चर्पटीनाथ, काणेरीनाथ, पूज्यनाथ, नित्यनाथ, निरंजननाथ, कापालीनाथ, बिन्दुनाथ, कामचण्डीश्वर, मयनाथ, अक्षयनाथ, प्रभुदेव, घोड़ाचूलीनाथ, टिण्टिणीनाथ, भल्लरी, नागबोध, खण्डकापालिका आदि। चौदहवीं शताब्दी के मैथिल ग्रन्थ में चौरासी नाथ-सिद्धों के नाम गिनाए जाते हैं। इसी प्रकार सहस्रार्जुन, नागार्जुन, दत्तात्रेय, देवदत्त, जड़भरत, बाला नाथ, हालीकपाव, मालीपाव आदि अन्य नाथों के नाम भी प्रसिद्ध हैं। खोजों से यह पता चला है कि इनमें से कई नाम नाथों की सूची के अलावा सिद्धों, तान्त्रिकों, निरंजनपंथियों आदि की सूची में भी पाए जाते हैं। केवल नाम ही नहीं कई अन्य बातें भी इन सब सम्प्रदायों में समान रूप से पायी जाती हैं। पं० गोपीनाथ जी के अनुसार—"हठयोगियों अर्थात् मत्स्येन्द्रनाथ, गोरखनाथ आदि नाथपंथियों, वज्रयानियों और सहजयानी बौद्धों, त्रिपुरा सम्प्रदाय के तान्त्रिकों, वीराचारियों, दत्तात्रेय के सम्प्रदाय वालों, शैवों, परवर्ती सहजियों और नव-वैष्णवों का नियमित और वैज्ञानिक अध्ययन ऐसी बहुत-सी बातों का रहस्योद्घाटन करेगा जो इन सबमें समान रूप से विद्यमान् हैं।"[2]

नाथों के उपर्युक्त नामों में से अधिकांश के बारे में कोई जानकारी नहीं है। इन सूचियों में मिलने वाले नामों के अलावा अन्यत्र उनका उल्लेख भी नहीं मिलता इसलिए निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि ये सभी व्यक्ति ऐतिहासिक अस्तित्व भी रखते हैं या नहीं। "इन नामों में अनेक ऐसे हैं, जिनके विषय

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० १२
२. हिंदी साहित्य की भूमिका, पृ० ५१ से उद्धृत

में बहुत कम जानकारी है, परन्तु कुछ ऐसे हैं जिनकी थोड़ी-बहुत चर्चा तांत्रिकों, योगियों और निर्गुनमार्गी सिद्धों के ग्रन्थों में मिल जाती है।"[1] यह निर्विवाद है कि नवनाथों में से प्रारम्भिक प्रवर्तक चार नाथ—मत्स्येन्द्रनाथ, गोरखनाथ, जालन्धरनाथ, कृष्णनाथ अवश्य ही ऐतिहासिक पुरुष हैं। इन्हीं के द्वारा यह सम्प्रदाय प्रवर्तित और पल्लवित हुआ। किन्तु इनके बारे में भी परस्पर-विरोधी और अविश्वसनीय अनेक किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं जो किसी सुनिश्चित मान्यता को स्वीकार करने में बाधक सिद्ध होती हैं।

सारांशतः कहा जा सकता है कि प्रारम्भ में नौ नाथ ही मूलनाथ हुए होंगे किन्तु बाद में स्थान और काल के भेद से इनमें परिवर्तन आ गया। परवर्ती सूचियों में अलग-अलग नामों की गणना होने लगी जिससे आज निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि वास्तविक नौ नाथ कौन थे? "सभी परम्पराओं से जान पड़ता है कि आरम्भ में नौ मूलनाथ हुए हैं, परन्तु इनके नाम भिन्न-भिन्न परम्पराओं में भिन्न-भिन्न तरह से प्राप्त होते हैं।"[2] नाथों की सूचियों में वैविध्य होने का एक और कारण यह भी है कि तत्कालीन अन्य सम्प्रदायों के समान नाथ सम्प्रदाय में भी यह धारणा प्रचलित है कि ये नाथ कालजयी, अजर और अमर हैं जिससे आज भी ब्रह्माण्ड में उपस्थित हैं। इस धारणा ने पूर्ववर्ती और परवर्ती नाथों को एक साथ प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति को जन्म दिया है जिससे सम्भवतः यह गड़बड़ हुई है।

नाथों की वेशभूषा

ये लोग सामान्यतः मेखला, सृंगी, सेली, गूदड़ी, खप्पर, कर्णमुद्रा, बघंबर, झोला आदि चिह्न धारण करते हैं।[3] कान को चीरकर उसमें ये लोग कुंडल पहनते हैं। इसलिए इनको 'कनफटा योगी' भी कहा जाता है। द्विवेदी जी के अनुसार कुण्डल धारण करने पर ही कोई कनफटा कहलाता है अन्यथा उससे पूर्व उसे 'औघड़' कहा जाता है।

कर्णकुण्डल या मुद्रा इन गोरखनाथी योगियों का चिह्न हैं। इस पंथ की मान्यता के अनुसार मुद्रा का आध्यात्मिक अर्थ इस प्रकार है—

मुद्=प्रसन्न होना
रा=आदान या ग्रहण
मुद्रा=प्रसन्नता को ग्रहण करना।

---

1. हिन्दी साहित्य कोश—भाग १, पृ० ४२६
2. वही पृ०, ४२६
3. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी—नाथसम्प्रदाय, पृ० १४

"चूंकि इससे देवता लोग प्रसन्न होते हैं और असुर लोग भाग खड़े होते हैं इसलिए इसे साक्षात् कल्याणदायिनी मुद्रा माना जाता है।"[1] यह मुद्रा दो प्रकार की होती है—कुण्डल और दर्शन। यह नाना धातुओं या हाथीदांत की बनी होती है। इनमें से दर्शन का विशेष महत्त्व है क्योंकि ऐसा समझा जाता है कि इसको धारण करनेवाला योगी ब्रह्म का साक्षात्कार कर चुका है। कुण्डल को पवित्री भी कहते हैं।

कर्णकुण्डल धारण करने की परम्परा का सूत्रपात गोरखनाथ या मत्स्येन्द्रनाथ द्वारा ही हुआ होगा। प्राचीन शिव की मूर्तियों को कुण्डल धारण किए हुए बताया गया है और यह किंवदन्ती भी प्रचलित है कि शिव ने अपना ज्यों का त्यों वेश मत्स्येन्द्रनाथ को दे दिया था। अतः सम्भव है मत्स्येन्द्रनाथ ही इस वेश के प्रथम सूत्रधार रहे हों।

नाथपंथ की शाखाएँ

नाथपंथ बारह शाखाओं में विभक्त है। "अनुश्रुति के अनुसार स्वयं गोरखनाथ ने परस्पर विच्छिन्न नाथपंथियों का संगठन करके उन्हें बारह शाखाओं में विभक्त कर दिया था। इन बारह पंथों के कारण ही उन्हें 'बारहपंथी योगी' कहा जाता है। प्रत्येक पंथ का एक-एक विशेष स्थान है जिसे ये लोग अपना पुण्य क्षेत्र मानते हैं। प्रत्येक पंथ किसी पौराणिक देवता या महात्मा को अपना आदि प्रवर्त्तक मानता है। ये बारह पंथ हैं—

१. सत्यनाथी
२. धर्मनाथी
३. रामनाथ
४. धजनाथ
५. लक्ष्मणनाथ
६. दरियानाथ
७. गंगानाथ
८. बैरागी
९. रावल या नागनाथ
१०. जालंधरिया
११. आईपंथ
१२. कपिलानी

ये समस्त गोरखनाथी योगी कनफटे हैं। मुद्रा को इनके यहां 'दर्शन' भी कहते हैं और उस आधार पर इन्हें 'दरसनी' कहा जाता है।

वर्तमान समय में नाथ-सम्प्रदाय से सम्बन्धित कई जातियां अब गृहस्थ हो चुकी हैं जिनमें से अधिकांश श्राद्ध के समय प्राप्त अन्न पर निर्भर हैं। गृहस्थ योगी भी मुद्रा या कुण्डल धारण करते हैं और समस्त नियमों का पालन करते हैं। किन्तु गृहस्थ हो जाने से अब उनका दर्जा वास्तविक योगियों से हीन समझा जाता है।

---

१. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी—नाथ सम्प्रदाय, पृ० ७

हठयोग की साधना

नाथों की विचारधारा दार्शनिक दृष्टि से शैवमत के निकट है तथा व्यावहारिक दृष्टि से पतंजलि के योगमार्ग के अधिक निकट है। 'चित्तवृत्ति निरोधः योगः' के अनुसार योग वस्तुतः चित्तवृत्तियों का निरोध करना है। चित्त स्वभाव से चंचल है और अपनी चंचलवृत्ति के कारण यह सदैव सांसारिक वस्तुओं में रुचि लेता है। संसार में बँधा रहने के कारण मनुष्य नाना विधि दुःख का भागी बनता है क्योंकि इस प्रकार उसके शरीर में स्थित शक्ति का क्षय होता रहता है और वह अपनी सहज गति से विमुख हो जाता है। संसार की ओर उन्मुख होने वाली चित्त की वृत्तियों को रोकना ही योग है। लेकिन हठयोग में उससे भी आगे, सांसारिक रुचियों को रोककर, हठपूर्वक अन्तर्मुखी किया जाता है। इसके लिए शरीर में स्थित शक्तिरूपा कुन्डलिनी को उद्बुद्ध कर क्रमशः षट्-चक्रों का भेदन करते हुए शीर्षस्थ सहस्त्रार चक्र में जहाँ शिव का निवास है, ले जाया जाता है। इस प्रकार शक्ति से शिव का योग ही हठयोग है।

हकारः कथितः सूर्यष्ठकारश्चंद्र उच्यते।
सूर्याचंद्रमसोर्योगात् हठयोगो निगद्यते॥

('ह' का अर्थ है सूर्य और 'ठ' का अर्थ है चन्द्रमा और सूर्य और चन्द्र का संयोग ही हठयोग है।)

योग-दर्शन में योग को अष्टांग योग बतलाते हुए उसके निम्न आठ भेद स्वीकार किए गए हैं :

१. यम—यह आचरण के विशोधन की अवस्था है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के पालन से ही आचरण-विशोधन सम्भव है।
२. नियम—शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान—ये पाँच नियम हैं।
३. आसन—स्थिर तथा सुखपूर्वक बैठने को आसन कहते हैं, 'स्थिर सुखम् आसनम्'। ये चौरासी प्रकार के बतलाए गए हैं।
४. प्राणायाम—श्वास-प्रश्वास की गति का विच्छेद प्राणायाम है। यह रेचक, पूरक, कुम्भक और केवल कुम्भक—इन चार प्रकार का होता है।
५. प्रत्याहार—इन्द्रियों को उनके विषयों से हटाकर निरुद्ध करना प्रत्याहार है।
६. धारणा—किसी स्थान पर चित्त को लगाना धारणा है—'देशबन्धस्य चित्तस्य धारणा'।
७. ध्यान—ज्ञान की अपरिवर्तित, अविचल अवस्था को ध्यान कहते हैं।
८. समाधि—जहाँ ध्याता और ध्येय एकमेव हो जाएँ उसे समाधि कहते हैं।

इनमें से पहले पांच (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार) बहिरंग

साधन माने गए हैं और शेष तीन (धारणा, ध्यान, समाधि) अन्तरंग साधन हैं।

'योगस्वरोदय' दो प्रकार के हठयोग का विवरण देती है। पहले भेद के अंतर्गत नाड़ियों को शुद्ध करने का प्रयास किया जाता है जिसके लिए षट्कर्मों का विधान है। हठयोग के दूसरे रूप में एक आसन पर स्थित होकर नासिकाग्र में दृष्टि को निबद्ध किया जाता है और कोटि सूर्य की ज्योति का ध्यान धारण किया जाता है।

हठयोग की साधना साधक के संसार से मुक्त होने के साथ शुरू होती है। वैराग्य सर्वाधिक आवश्यक करणीय है। जब तक संसार में चित्त की प्रवृत्ति है तब तक अन्तःसाधना संभव नहीं है। नाथ शब्द का अर्थ भी मुक्तिदाता है। अतः साधक के लिए स्वयं संसार से मुक्त होना अनिवार्य है। मुक्त होने के लिए दो अनिवार्य बातें है—वैराग्य भावना और इन्द्रियनिग्रह। इसके बाद ही सच्चा साधक साधना-हेतु गुरु द्वारा उपदिष्ट होता है।

कुण्डलिनी—हठयोग की साधना शरीर पर आधारित है, जिसके अनुसार प्रत्येक मानव में महाकुण्डलिनी शक्ति का व्यष्टि रूप कुण्डलिनी के रूप में विद्यमान रहता है। यह जाग्रत, स्वप्न या सुषुप्ति—तीनों दशाओं में निश्चेष्ट रहती है। यह मेरुदण्ड के नीचे साढ़े तीन वलयों में लिपटी रहती है।

षट्चक्र—शरीर में क्रमशः षट्चक्रों की स्थिति मानी गई है। सबसे नीचे कुण्डलिनी के ऊपर मूलाधार चक्र है जो चार दलों (पंखुड़ियों) का है। दूसरा नाभि के पास स्वाधिष्ठान (छह दल) है। तीसरा उससे ऊपर मणिपूर (दस दल) चक्र है। हृदय के पास चौथा अनाहत (बारह दल) चक्र है। कंठ के पास पांचवां चक्र विशुधाख्य (सोलह दल) चक्र है। और छठा चक्र भौंहों के मध्य आज्ञा नाम का है। इसके सिर्फ दो दल हैं। ये ही षट्चक्र हैं।

सहस्रार—इन षट्चक्रों का भेदन करने पर मस्तक में शून्य चक्र मिलता है। योगी यहीं अपनी जीवात्मा को पहुँचाना अपना परम कर्तव्य मानते हैं। इस चक्र के सहस्र दल माने गए हैं। इसलिए इसे ही सहस्रार चक्र कहा जाता है। वस्तुतः शून्य चक्र ही गगनमण्डल है। यही कैलाश है।

संत साहित्य में इस शून्य चक्र (सहस्रार) से ऊपर एक अष्टम् चक्र—सुरति-कमल—की कल्पना की गई है।

इड़ा-पिंगला नाड़ियाँ—प्राणवायु का वहन कई नाड़ियां करती हैं किन्तु उनमें से कुछ प्रमुख हैं। मेरुदण्ड के बायीं ओर की नाड़ी इड़ा और दायीं ओर की नाड़ी पिंगला कहलाती है। दोनों में श्वास-प्रवाह बारी-बारी से चलता है। इन दोनों के मध्य सुषुम्ना स्थित है। यही मुख्य नाड़ी है जिससे होकर कुण्डलिनी शक्ति जागृत होकर ऊपर की ओर प्रवाहित होती है। सुषुम्ना स्वयं

वज्रा, चित्रिणी और ब्रह्मनाड़ी का समन्वित रूप है। ब्रह्मनाड़ी ही कुण्डलिनी का मुख्य मार्ग है। शरीर की समस्त बावन हजार नाड़ियों में सुषुम्ना ही शाम्भवी शक्ति है, अन्य व्यर्थ हैं।

द्वासप्ततिसहस्राणि नाडिद्वाराणि पंजरे।
सुषुम्ना शांभवी शक्तिः शेषास्त्वेव निरर्थकाः॥[1]

हठयोग की साधना—साधक विविध साधनाओं से सोयी हुई या निष्क्रिय कुण्डलिनी शक्ति को प्रबुद्ध कर ऊपर की ओर उद्बुद्ध करता है। साधारण मनुष्य काम-क्रोध का दास रहता है क्योंकि उसकी कुण्डलिनी अधोमुखी रहती है। कुण्डलिनी के ऊर्ध्वमुखी होने पर उससे स्फोट होता है। यही नाद है। नाद से प्रकाश होता है। इसी प्रकाश का व्यक्त रूप महाबिन्दु है जो इच्छा, ज्ञान और क्रिया तीन प्रकार का होता है।

यह नाद असल में सृष्टि में समष्टि रूप व्याप्त अनाहत नाद का व्यष्टि रूप है। इस प्रकार जो नाद अखिल ब्रह्माण्ड में व्याप्त है उसी का प्रकाश जब व्यक्ति में होता है तो उसे नाद कहते हैं। बद्ध जीव, जिसकी सुषुम्ना का पथ बन्द रहता है, इस नाद को न सुन सकता है। इसी से उसकी वृत्ति बाह्य विषयों में रहती है। किन्तु जब सुषुम्ना का पथ उन्मुक्त हो जाता है और कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत हो जाती है तो साधक के प्राण स्थिर हो जाते हैं और वह निरन्तर उस अनाहत नाद को सुनने लगता है। यह नाद प्रारम्भ में समुद्र-गर्जन, मेघ-गर्जन, भेरी, झर्झर आदि-सा भीषण होता है। दूसरी अवस्था में मर्दल, शंख, घंटा की ध्वनि-सा सुनाई पड़ता है और अन्त में किंकणी, वंशी, भ्रमर और वीणा की मधुर गुंजार-सी सुनाई पड़ती है। नादासक्त साधक उसी में रम जाता है।

अन्तिम अवस्था में इन शब्दों का सुनाई देना भी बन्द हो जाता है और साधक की आत्मा उस समय अपने स्वरूप में पूरी तरह स्थिर हो जाती है और बाह्य प्रकृति से उसका कोई सम्बन्ध नहीं रहता।

शास्त्र में जिसे प्रणव या ओंकार की संज्ञा दी गई है वही उपाधि-रहित शब्द तत्त्व है। इसे ही स्फोट कहा गया है, जो अखण्ड सत्ता रूप ब्रह्म शब्द का वाचक है। यह शब्द मूलाधार में उठता है और सहस्रार में जाकर लय हो जाता है।

कुण्डलिनी की शक्ति को उद्बुद्ध करने के लिए आसन, मुद्रा, प्राणायाम और समाधि का अवलम्ब लिया जाता है, जिनकी अलग से विस्तार से भेद-सहित व्याख्या हठयोग में की गई है।

---

१. हठयोग प्रदीपिका

आत्मा को शून्य में और शून्य को आत्मा में कर योगी निश्चिन्त हो जाता है। शून्य अर्थात् समाधि—जबकि आत्मा छह चक्रों को भेदकर शून्यचक्र में अवस्थित होता है। ऐसी अवस्था में उसके भीतर भी शून्य है, बाहर भी शून्य है, आकाश में जैसे कोई सूना घड़ा रखा हो। परन्तु असल में वह भीतर से भी पूर्ण होता है, बाहर से भी पूर्ण होता है—

अन्तः शून्यो वहिः शून्यः, शून्य कुम्भ इवाम्वरे
अन्तः पूर्णो वहिः पूर्णो, पूर्णः कुम्भ इवार्णवे ॥—हठयोग प्रदीपिका
जल में कुम्भ, कुम्भ में जल है, वाहर-भीतर पानी।
फूटा कुम्भ, जल जलहि समाना, यह तथ कह्यो गयानी ॥[1]—कबीर

नाथों-सिद्धों की पारिभाषिक शब्दावली

पहले यह बतलाया जा चुका है कि जब से बौद्ध धर्म ने जन सामान्य की ओर बढ़ना शुरू किया तभी से उसमें स्वसाम्प्रदायिक सिद्धान्तों के गोपन की प्रवृत्ति बढ़ने लगी। इन्होंने प्रतीकों और उलटबासियों के सहारे साधना की क्रियाओं को विशिष्टता प्रदान करने के लिए, इस गोपन प्रवृत्ति को प्रश्रय दिया। इस रहस्यात्मकता के लिए इन्होंने अपनी साम्प्रदायिक मान्यताओं और साधना-पद्धति के लिए कुछ पारिभाषिक शब्द बनाए। इस शब्दावली का प्रयोग बाद में नाथ साहित्य में और भक्तिकालीन सन्तों के साहित्य में भी किया गया। "इस शैली के प्रयोक्ता साधक वे हैं, जिन्होंने आध्यात्मिक अनुभूतियों को, वाणी के संकेतों के माध्यम से अभिव्यक्त किया है।"[2] इस विशिष्ट शब्दावली की मूल अभिव्यंजना को जान लेना जरूरी है।

वज्र—सिद्धों ने वज्र का प्रयोग शून्य के अर्थ में किया है। उनका यह वज्र शब्द वैदिक देवता इन्द्र का आयुध ही है। इस प्रकार वज्र शब्द इनका अपना नहीं है वरंच पूर्व-प्रचलित इस शब्द को इन्होंने अपने ढंग से प्रस्तुत किया है। "सिद्ध लोग वज्र का प्रयोग शून्य के अर्थ में करते थे। दृढ़ता, अच्छेद्यता, अभेद्यता आदि वज्र के लक्षण शून्यता में हैं अतः वही वज्र है।"[3]

महासुख—यह अवस्था सिद्धों के लिए सर्वाधिक महत्त्व रखती है। उनकी समस्त साधनाएँ इसी अवस्था को प्राप्त करने के लिए हैं। इस अवस्था को पहुँचा हुआ साधक मोक्षवत् आनन्द को प्राप्त करता है। इसकी अनुभूति अतिशय सूक्ष्म होती है जिसे प्रतीकों के माध्यम से ही जाना जा सकता है। "वज्रयान

१. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी—कबीर (हठयोग की साधना) पर आधारित।
२. डॉ० रमेशचन्द्र मिश्र—हिन्दी सन्तों का उलटवासी साहित्य, पृ० १०
३. डॉ० धर्मवीर भारती—सिद्ध साहित्य, पृ० १८१

में महासुख वह दशा बतलाई गई है जिसमें साधक शून्य में इस प्रकार विलीन हो जाता है जिस प्रकार नमक पानी में। इस दशा को स्पष्ट करने के लिए 'युगनद्ध' की भावना ग्रहण की गई।"[1] इस प्रकार समरसता ही महासुख है। "इस महासुख की व्याख्या करनी बहुत कठिन है, क्योंकि वह समरस है, सहजानन्द है, न वह श्रवण से सुन पड़ता है, न पवन उसे हिला पाती है, न अग्नि उसे जला पाती है, न वर्षा से वह आर्द्र होता है, न वह बढ़ता है, न वह घटता है, न वह अचल है, न गतिशील है, उपनिषदों के ब्रह्म की भाँति ही उसकी नेतिपरक व्याख्या दी जा सकती है। किन्तु साथ ही वह केवल नेतिपरक नहीं है क्योंकि जिस भव में लगकर व्यक्ति मरता है, उत्पन्न होता है, बन्धन में पड़ता है, उसी में लगकर वह परम महासुख को भी सिद्ध कर लेता है।'[2]

निरंजन—यह सारा संसार माया से लिप्त है। जल के प्रतिबिम्ब के समान यह जग मायामय है। माया से लिप्त होने के कारण ही यह संसार अंजन है किन्तु माया से परे जो तत्त्व है वही निरंजन है। इस प्रकार निष्कलुष ब्रह्म ही निरंजन है। अंजनरहित होने से इसे माया नहीं व्याप सकती। हठयोग प्रतिपादित ग्रंथों में निरंजन शून्य या ब्रह्म या व्यापक तत्त्व का परिचायक है।

परचा—आत्मा का विविध साधना के सहारे जब परम-आत्मा से साक्षात्कार हो जाता है तो उस परिचय को परचा की संज्ञा दी जाती है। "जैसे ही जीवात्मा गुरु के उपदेश से, साधनाभ्यास द्वारा हृदय के भीतर ही परमात्मारूपी पति का साक्षात्कार कर लेती है तब यह परिचय ही दिव्य परिचय बन जाता है। यही परचा है।"[3]

हठयोग—(सूर्य-चन्द्र योग) "शास्त्रग्रंथों में हठयोग साधारणतः प्राण-निरोध-प्रधान साधना को ही कहते हैं। सिद्ध सिद्धांत पद्धति में 'ह' का अर्थ सूर्य और 'ठ' का अर्थ चन्द्र बतलाया गया है। सूर्य और चन्द्र का योग ही 'हठयोग' है।

हकारः कथितः सूर्यष्ठकारश्चंद्र उच्यते।
सूर्याचंद्रमसोर्योगात् हठयोगो निगद्यते॥

मूलतः हठयोग का यही अर्थ जान पड़ता है कि कुछ इस प्रकार अभ्यास किया जाय कि जिससे 'हठात्' सिद्धि मिल जावे।"[4]

सर्पिणी (सांपिन)—सर्पिणी का प्रयोग सिद्धों ने कुण्डलिनी के लिए किया

---

1. डॉ० रामचन्द्र शुक्ल—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० १६
2. डॉ० प्रबोधचन्द्र बागची
3. डॉ० रमेशचन्द्र मिश्र—हिन्दी सन्तों का उलटवासी साहित्य, पृ० १२६
4. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी—नाथ-सम्प्रदाय, पृ० १२६

है। यह शरीर की सबसे प्रधान कार्यकारिणी शक्ति है और ब्रह्माण्ड में व्याप्त महा-कुण्डलिनी का ही एक अंग है। इसी के स्फोट के बाद विश्व-प्रपंच शुरू होता है। हठयोग की साधना में सर्वप्रथम इसी को जगाया जाता है और ऊर्ध्वगामी किया जाता है।

अजपाजाप—षट्चक्र भेदन की स्थिति के साथ अजपाजाप हुआ करता है। इस जाप में जिह्वा की जरूरत नहीं पड़ती। ध्यान धारण करते समय इसे ग्रहण कर लिया जाता है, फिर तो रोम-रोम से यह अपने आप हो जाता है। इसे 'वज्र-जाप' भी कहा जाता है। वस्तुत: सिद्धों ने इसे वज्रजाप कहा है और नाथों ने अजपाजाप। यह शून्य में मन को केन्द्रित करने का एक साधन माना गया है। "अजपाजाप योग-साधना में प्राथमिक महत्त्व की वस्तु माना जाता था और इसके जप से अतीव अनुपम ज्ञान की प्राप्ति होती थी।"[1]

नाद-बिन्दु संयोग (शिव-शक्ति संयोग)—शरीर में तीन प्रधान वस्तुएँ हैं जो परम शक्तिशाली हैं पर चंचल होने से मनुष्य के काम नहीं आतीं। वे हैं बिन्दु, मन और वायु। इनमें से किसी एक के भी वश में हो जाने पर दूसरे दो भी वश में हो जाते हैं और अपनी चचल वृत्ति को छोड़कर स्थिर हो जाते हैं। बिन्दु शुक्र का ही दूसरा नाम है। यह इच्छा, ज्ञान, क्रिया—इन तीन प्रकार का माना गया है। वीर्यरूप में स्थित इसी बिन्दु को हठयोग द्वारा ऊर्ध्वमुख कर स्खलित होने से बचाया जाता है और सहज-समाधि प्राप्त की जाती है। इससे मन और प्राण अचंचल हो जाते हैं।

कुण्डलिनी के उद्बुद्ध होने पर तथा प्राण के स्थिर हो जाने पर साधक हमेशा शून्य पथ से अनाहत नाद को सुनने लगता है। अनाहत नाद अखण्ड रूप से ब्रह्माण्ड में ध्वनित होता रहता है। इसी को पिण्ड में भी स्थित माना गया है। नाद से प्रकाश होता है और प्रकाश का ही व्यक्त रूप बिन्दु है। "यह जो नाद और बिन्दु हैं वह दरअसल में अखिल ब्रह्माण्ड-व्याप्त अनाहतनाद या अनहद-नाद का व्यष्टि में व्यक्त रूप हैं अर्थात् जो नाद अनाहत भाव से सारे विश्व में व्याप्त है उसी का प्रकाश जब व्यक्ति में होता है तो उसे नाद और बिन्दु कहते हैं।"[2] बद्धजीव जिसकी सुषुम्ना का पथ बन्द रहता है और जिसका श्वास-प्रश्वास इड़ा-पिंगला के मार्ग से चलता है, इस नाद को नहीं सुन पाता। लेकिन जब क्रिया विशेष से सुषुम्ना पथ उन्मुक्त होता है और कुण्डलिनी जाग उठती है तो प्राण स्थिर होकर उस शून्य पथ से निरन्तर उस अनाहत ध्वनि या उन्मुक्त अनाहत नाद को सुनने लगता है।" इस प्रकार नाद, शब्द या शिव में बिन्दु या

१. डा० धर्मवीर भारती—सिद्ध-साहित्य, पृ० ४०४
२. हिन्दी साहित्य की भूमिका—आ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ५४

शक्ति को लय कर देना ही नाद-बिन्दु संयोग या शिव-शक्ति संयोग कहलाता है।

चन्द्र-सूर्य संगम—हठयोग की व्याख्या में यह बतलाया जा चुका है कि इस साधना में 'ह' को चन्द्र और 'ठ' को सूर्य की संज्ञा दी गई है। इस प्रकार चन्द्र और सूर्य का संगम या योग ही हठयोग है। चन्द्र की स्थिति शरीर में सहस्रार चक्र में मानी गई है जिससे अमृत का स्राव निरन्तर होता है और मूलाधार में सूर्य की स्थिति मानी गई है। कुण्डलिनी के उद्‌बुद्ध होने पर चन्द्र से झरने वाला अमृत स्राव नीचे सूर्य में गिरकर भस्म नहीं होता वरन् उसे वहीं लय कर लिया जाता है। यही चन्द्र और सूर्य का संगम है।

त्रिवेणी व ब्रह्मरन्ध्र (दशम द्वार)—शरीर की ७२ हजार नाड़ियों में से सिर्फ सुषुम्ना ही शक्ति की वाहिका है। इसी में से ही कुण्डलिनी ऊपर की ओर बढ़ती है। इसे सरस्वती कहा जाता है। इसके बायीं ओर इड़ा नामक नाड़ी है जिसमें से वाम नासापुट का प्रवाह होता रहता है। इसे गंगा कहते हैं। सुषुम्ना के दायीं ओर पिंगला होती है। दक्षिण नासापुट का श्वास-प्रवाह इसमें से होता है। इसे यमुना कहते हैं। इन तीनों नाड़ियों का संगम ब्रह्मरन्ध्र (जो मस्तिष्क के मध्य में स्थित है) में होता है। इसी संगम स्थल (ब्रह्मरन्ध्र) को त्रिवेणी के नाम से बताया गया है। ब्रह्मरन्ध्र ही दशम द्वार है, जो बन्द रहता है। साधना से त्रिवेणी में तीनों नाड़ियों का संगम होता है और दशम द्वारा खोला जाता है। ब्रह्मरन्ध्र के खुलते ही सहस्रार चक्र से अमृतरस या सोमरस झरता है जिससे योगी को अमरत्व की प्राप्ति होती है।

उलटा कुआं—इसे अधोकूप, औंधा कुआं आदि नामों से भी पुकारा जाता है। ये वस्तुतः ब्रह्मरन्ध्र या दशम द्वार के ही नाम हैं। हठयोगी परम्परानुसार मस्तिष्क या गगनमण्डल में एक सूक्ष्म छिद्र है, इसी को ब्रह्मरन्ध्र कहते हैं। इसका मुंह नीचे की ओर रहने के कारण इसी को उलटा कुआं कहते हैं। इसमें अमृत भरा रहता है लेकिन द्वार रुद्ध होने के कारण उस अमृत का पान बद्धजीव नहीं कर सकता। सुषुम्ना के मार्ग से जब शक्ति को ऊर्ध्वमुखी किया जाता है तो यह द्वार खुल जाता है और साधक अमृत का पान करने लगता है।

खेचरी मुद्रा—ब्रह्मरन्ध्र के खुलने पर सहस्रार चक्र से जो सोमरस या अमृतरस निर्झरिणी-सा झरता है उसका पान योगी एक विशेष मुद्रा में करता है जिसे खेचरी मुद्रा कहते हैं। "इसमें जबान को उलटकर तालू से लगाते हैं और दृष्टि को दोनों भौंहों के बीच मस्तक पर लगाते हैं। इस स्थिति में चित्त और जीभ दोनों ही आकाश में स्थित रहते हैं, इसलिए इसे खे (आकाश)-चरी मुद्रा कहते हैं। इसके साधन से मनुष्य को किसी प्रकार का रोग नहीं होता।"[1]

---

१. हिन्दी साहित्य कोश, भाग १, पृ० २७२

गोमांस-भक्षण—'गो' शब्द का अर्थ है जिह्वा (इन्द्रिय विशेष) और इसको एक मुद्रा विशेष में उलटकर (खेचरी मुद्रा मे) कपाल कुहर में ले जाने और सहस्त्रार से टपकने वाले अमृत के भक्षण को ही गोमांस-भक्षण कहते हैं।

अमर वारुणी (सोमरस)—खेचरी मुद्रा मे ब्रह्मरन्ध्र से जिस अमृतरस का पान किया जाता है वही अमर वारुणी है। हठयोगियों का विश्वास है कि चन्द्रमा से झरने वाले इस अमृतरस या अमर वारुणी या सोमरस का जो साधक पान कर लेता है वह साधक अमर हो जाता है। 'हठयोग प्रदीपिका' में कहा है कि नित्य गोमांस-भक्षण और अमर वारुणी का पान करना चाहिए। जो योगी ऐसा करता है वही कुलीन है और शेष सभी कुलघातक हैं। इसी को अमृत, अमीरस, वारुणी, महारस, सहजरस, सुधारस आदि नामों से भी पुकारा जाता है।

बाल-रंडा—"हठयोगियों ने बाल-रंडा (बाल-विधवा) के साथ बलात्कार करने का आदेश दिया है जिसका तात्पर्य यही है कि इड़ा, पिंगला के बीच में बाल-विधवा कुण्डलिनी का निवास है। योगबल (बलात्कार) से इसे उद्बुद्ध करके सहस्त्रार तक पहुँचाने (अर्थात् अपहरण) से विष्णु का परमपद प्राप्त होता है।"[१]

सुरति-निरति—सुरति शब्द का उद्भव स्रोत से बताया गया है। स्रोत का अर्थ चित्त-प्रवाह किया गया है। सरहपा इसे कमल-कुलिश या प्रज्ञोपाय का ही पर्याय मानते है। हिन्दी में यह प्रेम-क्रीड़ा, स्मृति, श्रुति आदि कई अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। किन्तु सिद्धों ने इस शब्द का प्रयोग निस्सन्देह 'प्रेम-क्रीड़ा' के अर्थ में किया था, श्रुति या स्मृति के अर्थ में नहीं। लेकिन नाथ-सम्प्रदाय में इसका अर्थ बदल गया। सम्भवतः गोरखनाथ ने इसके मैथुनपरक अर्थ को छोड़कर एक नया अर्थ प्रदान किया। उन्होंने इसे श्रुति (नाद या शब्द) के अर्थ में ग्रहण किया। इसी आधार पर समूचे नाथ सम्प्रदाय को ही सुरति-योग कहा जाने लगा था। गोरखबानी के अनुसार शब्द या ब्रह्माण्डव्यापी अनहदनाद को जब चित्त में स्थिति हो जाती है तो शब्द की यह स्थिति सुरति है।

निरति निरालम्ब की स्थिति है। यही सहज स्थिति है। विषयों के त्याग के लिए वैराग्य या निरति आवश्यक है। इसके लिए आत्मस्वरूप को पहचानना जरूरी है।

गगनमण्डल (कैलाश)—इसे गगनगुफा, गगनशिखर, शून्य मंडल, आकाश मण्डल भी कहा गया है। यह स्थान मेरुदण्ड के ऊपर शिरोभाग में माना गया है। जब कुण्डलिनी शक्ति षट्चक्रों का भेदन करके सहस्त्रार चक्र में प्रवेश करती है जिसमें सहस्त्रदल कमल स्थित हैं तो उस दशा को ही शून्यचक्र या गगनमण्डल

---

१. हठयोग प्रदीपिका, अध्याय ३/१०-१२

कहा जाता है। शिव का वासस्थान भी यहीं है और शिव का वासस्थान होने के कारण इसे ही कैलाश कहते हैं। यहीं उल्टा कुआँ है। यहीं नाद सुनाई पड़ता है। यहीं अनुसन्धान किया जाता है।

मानसरोवर—प्राणवायु को सुषुम्ना के मार्ग से ब्रह्मरन्ध्र में चढ़ा लेने पर जब शक्ति का शिव से समागम हो जाता है तो साधक को परमपद की प्राप्ति हो जाती है जिसे कैलाश कहा गया है। कैलाश के कारण यहीं मानसरोवर की कल्पना की गई है जिसमें निर्लिप्त चित्तरूपी हंस स्नान करते हैं।

हंस-हिंडोला—"पुरुष तत्त्व और प्रकृतितत्त्व का संयोग या एकीभाव ही हंस है। × × × 'हंस' का 'हं' शिव है और 'स' शक्ति है। 'हं' पुरुषवाची है, 'स' स्त्रीवाची। संसार इसी हंसद्वंद्व से निर्मित हुआ है—पुंप्रकृत्यात्मको हंसस्तदात्मकं इदं जगत्।"[1] हंस को उलट देने पर सोऽहं बन जाता है। कैलाश-स्थित मानसरोवर में हंसों की क्रीड़ा को ही हठयोग में प्रतीक के माध्यम से हंस-हिंडोला माना गया है। अर्थात् निर्लिप्त चित्त की ब्रह्मरन्ध्र में की गई क्रीड़ा ही हंस-हिंडोला है।

साधना मार्ग—हठयोग में तीन प्रकार के साधना मार्गों का उल्लेख मिलता है—पिपीलिका मार्ग, मीन मार्ग और विहंगम मार्ग।

(१) पिपीलिका मार्ग—यह सूक्ष्म वृत्ति या बुद्धि का द्योतक है। जैसे चींटी स्निग्ध दीवार पर चढ़ती है वैसे ही साधक को अपनी वृत्ति को स्थिर करना पड़ता है। अर्थात् साधना-काल के आकर्षणों और प्रलोभनों की बाधाओं से बचना होता है।

(२) मीन मार्ग—मीन धारा के भी विपरीत चल सकती है। इस मार्ग की साधना में साधक भव-धारा के विपरीत उलटचाल करता है और लक्ष्य की ओर बढ़ता है। इसमें योग-साधना से नाड़ियों के प्रवाह को विपरीत दिशा में बहाया जाता है।

(३) विहंगम-मार्ग—जैसे पक्षी एक वृक्ष से सहज ही में उड़कर अन्य पेड़ पर जा बैठता है वैसे ही साधक को भी साधना पथ पर सहज भाव को महत्त्व देना पड़ता है। इस प्रकार सहज-भाव से ही वह सुन्नशिखर पर जा पहुँचता है।

उन्मनी अवस्था—जिस अवस्था में सुषुम्ना मार्ग से प्राणवायु संचरित होने पर मन की गति भी स्थिर हो जाती है, साधक की वह अवस्था उन्मनी अवस्था कहलाती है। इस अवस्था की प्राप्ति होने पर साधक सम्पूर्ण ससीम गर्त से विनिर्मुक्त होकर निरंजन अवस्था को प्राप्त होता है।[2]

---

१. हिन्दी साहित्य कोश, भाग १, पृ० ८५८-८५९
२. डॉ० रामचन्द्र—नाथों का उपलब्ध साहित्य पृ० १४१

उलटी गंगा—इड़ा को गंगा कहा गया है। उलटी गंगा का अर्थ इड़ा के प्रवाह को उलटना है। सामान्यतः इड़ा का प्रवाह निम्नगामी रहता है जिससे ब्रह्मरन्ध्र-स्थित 'चन्द्र' से स्रवित होने वाला अमृत मूलाधार-स्थित सूर्य में पड़कर भस्म होता रहता है। इसी से मनुष्य जरा-मृत्यु को प्राप्त करता है। किन्तु जब साधना से इड़ा का मार्ग पलट दिया जाता है तो यही अमृत अमरत्व दिलाता है। इड़ा (गंगा) के मार्ग को उलट देना ही उलटी गंगा है।

ख-सम—सिद्धों में इस शब्द का प्रयोग शून्यावस्था के अर्थ में हुआ है, जिससे इसका अर्थ ख=आकाश, सम=समान अर्थात् आकाशवत् या शून्यवत् प्रतीत होता है। शून्य की साधना ही सिद्धों की सबसे बड़ी साधना है।

षट्चक्र—कुण्डलिनी जब उद्बुद्ध होकर सुषुम्ना के मार्ग से ऊर्ध्वमुखी होती है तो क्रमशः छः चक्रों का भेदन करती है। इन चक्रों की स्थिति मेरुदण्ड के सहारे सुषुम्ना में स्थित मानी गई है। ये हैं मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, विशुद्धाख्य और आज्ञा चक्र। आज्ञा चक्र के ऊपर सहस्रार या सहस्रदल कमल की स्थिति मानी गई है। इन्हीं चक्रों का भेदन कर जब कुण्डलिनी शक्ति सहस्रार में पहुँचती है तो साधक को परमपद की प्राप्ति होती है।

सहज-समाधि—सहज को भावाभाव से परे बतलाया गया है। सहज वह परम तत्त्व है जो प्रज्ञा और उपाय के सहगमन से उत्पन्न होता है। नाथों ने सहज को परमतत्त्व के रूप में माना है और 'सहज रहनि' का उपदेश दिया है। यही अवस्था समरसता या महासुख की अवस्था मानी गई है।

शब्द-शून्य—योगदर्शन में निर्विकल्प समाधि के सम्बन्ध में शून्य का उल्लेख है, परन्तु वहाँ सबीज वृत्ति के आत्यंतिक अभाव को ही शून्य बताया गया है। व्यापक ब्रह्मतत्त्व के रूप में भी शून्य का उल्लेख है।[1] आकाश भी शून्य रूप है। अतः गुण-गुणी के अभेद से शब्द को ही आकाश या शून्य या ब्रह्म के रूप में कथन हुआ है।

अपभ्रंश का स्फुट साहित्य

विद्यापति की कीर्तिलता

विद्यापति की कीर्तिलता अवहट्ठ की रचना है जिसमें अपभ्रंश के चरित-काव्यों की परम्परा में कवि द्वारा काव्य-सृजन किया गया है। "इस रचना का हिन्दी साहित्य में दो दृष्टियों से महत्त्व है—साहित्यिक प्रवृत्तियों तथा भाषा सम्बन्धी परिवर्तन के कारण।"[2] ऐतिहासिक काव्यों का निर्माण अपभ्रंश और आदि-

1. डॉ० रामचन्द्र—हिन्दी सन्तों का उत्तरकालीन साहित्य, पृ० १३३
2. शिवकुमार शर्मा—हिंदी साहित्य: युग और प्रवृत्तियाँ, पृ० ८५

कालीन हिन्दी साहित्य में अवहट्ट भाषा में हुआ है। 'कीर्तिलता' कवि के आश्रय-दाता कीर्तिसिंह की प्रशंसा में लिखा गया ऐतिहासिक काव्य है। 'पृथ्वीराज रासो' के समान इसकी प्रामाणिकता पर किसी प्रकार सन्देह नहीं किया जा सकता क्योंकि इस काव्य में राजा के वीरत्व की अलंकृत भाषा में प्रशंसा होते हुए भी इतिहास के साथ खिलवाड़ नहीं किया गया है। 'कवि ने ऐतिहासिक तथ्यों को कल्पित घटनाओं एवं संभावनाओं से धूमिल नहीं होने दिया है।' इसका काव्य-रूप, द्विवेदी जी के अनुसार वही है जो 'पृथ्वीराज रासो' का है। "यह भृङ्ग और भृंगी के संवाद के रूप में है, इसमें भी संस्कृत और प्राकृत के छन्दों का प्रयोग है। × × × रासो की भाँति कीर्तिलता में भी गाथा (गाहा) छन्द का व्यवहार प्राकृत भाषा में हुआ है। यह विशेष लक्ष्य करने की बात है कि संस्कृत और प्राकृत के पद्यों में तथा गद्य में भी तुक मिलाने की चेष्टा है, जो अपभ्रंश परंपरा के अनुकूल ही है। पद्धरि छन्द का इस ग्रन्थ में भी उपयोग है।"[1] अपभ्रंश के चरितकाव्यों ने इसके लिए समुचित भूमिका तैयार कर दी थी। उनमें से कुछ तत्त्व कीर्तिलता में भी हैं जो इस प्रकार हैं :

१. भृङ्ग-भृङ्गी के संवाद रूप में कहानी प्रस्तुत करना।
२. संस्कृत के साथ प्राकृत के छन्दों का प्रयोग। इस ग्रंथ में भी प्राकृत ग्रंथों के सदृश पद्धरि (पद्धड़िया बंध) का प्रयोग हुआ है।
३. प्रारम्भ और अन्त में संस्कृत में छन्द-रचना।
४. गद्य का भी प्रसंगानुकूल प्रयोग।

"इस प्रकार यह स्पष्ट है कि विद्यापति ने इस ग्रन्थ को अपभ्रंश में प्रचलित कथा-काव्यों की शैली में ही रचना चाहा था।"[2] इस प्रकार इस ग्रन्थ की पृष्ठभूमि के रूप में अपभ्रंश के चरितकाव्यों की परम्परा विद्यमान रही है जिसके परिचय के बिना इसे समझ पाना दुष्कर है।

प्राकृत पैंगलम्

यह ग्रन्थ विविध कवियों की रचनाओं का संग्रह है। प्राकृत और अपभ्रंश के अनेक छन्द इस ग्रन्थ में संगृहीत किए गए हैं। इनमें से विद्याधर, शार्ङ्गधर, जज्जल, बब्बर आदि कवि प्रमुख हैं। ये छन्द वीर, शृङ्गार, नीति, शिवस्तुति, विष्णुस्तुति, ऋतु-वर्णन आदि विषयों से सम्बन्धित हैं। मात्रा में कम होने पर भी ये छन्द आदिकालीन काव्य-रूढ़ियों और परम्पराओं पर प्रकाश डालने में सक्षम हैं। 'ये सभी रचनाएँ और संदेशरासक, पृथ्वीराज रासो, कीर्तिलता आदि

१. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी—हिंदी साहित्य, पृ० ३८
२. वही, पृ० ३८

के कवि उस श्रेणी के नहीं थे, जिन्हें आदिम मनोवृत्ति के कवि कहते हैं। वस्तुतः इन रचनाओं में एक दीर्घकालीन परम्परा का स्पष्ट परिचय मिलता है।"[1] इन छन्दों के पीछे भी काव्य-रचना की लम्बी परम्परा है जिसे अपभ्रंश काव्यों में स्पष्ट देखा जा सकता है।

अब्दुर्रहमान का 'सनेसरासक'

सनेसरासक (सन्देशरासक) का कवि अब्दुर्रहमान कबीर की ही भांति जुलाहा था। इसकी यह लघु रचना खण्डकाव्य कही जा सकती है। विरहिणी के हृदय की कोमल अनुभूतियों का चित्रांकन इस काव्य में सहज शब्दों में हुआ है। इस दृष्टि से इसे 'मेघदूत' की परम्परा में रखा जा सकता है। उसी की तरह कथा का सूत्र सनेसरासक में भी इतना सूक्ष्म है कि इसका प्रत्येक छन्द स्वतन्त्र मुक्तक प्रतीत होता है। संस्कृत के विरह-काव्यों के सदृश यह काव्य भी प्रेम की गहन अनुभूतियों को प्रकट करता है। इसकी नायिका पथिक के हाथ अपने प्रिय को संदेश भेजती है कि उसका पति आ जाता है। प्रसंगवश इसमें षड्-ऋतु-वर्णन भी हुआ है। इस प्रकार एक साथ यह काव्य विरह और प्रकृति काव्य परम्परा के सम्बन्ध का निर्वाह करता है।

1. आ० हजारीप्रसाद द्विवेदी—हिंदी साहित्य, पृ० ७२

५

आदिकालीन देश-भाषा साहित्य

राजस्थानी साहित्य

आदिकाल में प्रभूत मात्रा में साहित्य प्रदान करने का श्रेय राजस्थान को है। यहाँ के कवियों ने साहित्य की विविध विधाओं को लेकर साहित्य निर्माण किया है। गद्य और पद्य दोनों में यहाँ काव्य निर्मित हुआ है। इस साहित्य की महती विशेषता जातीय और राष्ट्रीय भावना का प्रकाशन है। इस साहित्य में तत्कालीन हिन्दुओं के गौरव और आत्म-सम्मान को प्रकट होने का पूरा अवसर मिला है। मेनारिया जी के शब्दों में राजस्थान में अनेक ऐसे प्रतिभाशाली साहित्यकार हो गए हैं जिनके ग्रन्थ हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि हैं और हिन्दी भाषा-भाषियों के गौरव की वस्तु माने जाते हैं। राजस्थान का डिंगल साहित्य जो वस्तुतः हिन्दू जाति का प्रतिनिधि साहित्य है और जिसमें हिन्दू संस्कृति और हिन्दू गौरव की झलक सुरक्षित है, यहाँ के साहित्यिकों की अपनी एक देन है।[१] राजस्थानी साहित्य की यह गौरवशाली परम्परा केवल आदिकाल तक ही सीमित न रही अपितु अद्यावधि अविच्छिन्न भाव से चली आ रही है। इसलिए इसके साहित्य को केवल आदिकाल की सीमा के भीतर ही देखना अनुचित है। परवर्ती राजस्थानी साहित्य का महत्त्व भी प्रारम्भिक साहित्य से किसी भाँति कम नहीं है। इसलिए राजस्थानी भाषा के विकास-क्रम के आधार पर इसके साहित्य को निम्न प्रकार विविध कालों में विभाजित किया गया है :[२]

१. प्रारम्भकाल—सं० १०४५—१४६०
२. पूर्व मध्यकाल—सं० १४६०—१७००
३. उत्तर मध्यकाल—सं० १७००—१९००
४. आधुनिक काल—सं० १९००—आज तक

---

१. डॉ० मोतीलाल मेनारिया—राजस्थानी भाषा और साहित्यः निवेदन, पृ० १
२. वही, पृ० १०३

इनमें से प्रारम्भिक काल का साहित्य ही हमारे विवेच्य काल के अन्तर्गत आता है। राजस्थानी में साहित्य-निर्माण का श्रेय, इस काल में, जैन मताव-लम्बियों को अधिक मिलता है। धनपाल, जिनवल्लभसूरि, शालिभद्र सूरि, जिन-प्रभ सूरि आदि अनेक जैनाचार्यों ने इस युग में साहित्य निर्माण किया है। परन्तु साहित्यिक दृष्टि से इसका विशेष महत्त्व नहीं आँका जाता। जैनेतर साहित्य को जैन साहित्य की भाँति धार्मिक संरक्षण नहीं मिला था। यह युग राजनैतिक दृष्टि से इस प्रदेश में उथल-पुथलपूर्ण रहा है। इसलिए इस युग के साहित्य को राज्याश्रय भी नहीं मिल सका। यद्यपि इस समय के राजागण साहित्यिक रुचि के थे और प्रायः प्रत्येक ने प्रतिभासम्पन्न कवियों को आश्रय देकर उन्हें गौरवान्वित किया था तथापि विषम राजनैतिक परिस्थितियों के कारण श्रेष्ठ साहित्य का संरक्षण नहीं हो सका। अर्थात् इस युग का डिंगल साहित्य केवल लोकरुचि के आसन पर प्रतिष्ठित होकर ही संतोष कर सका। कई अमूल्य ग्रन्थ लुप्त हो गए और जो बचे उनमें भी पर्याप्त मात्रा में क्षेपकादि जोड़ दिए गये। यह साहित्य विकृतावस्था में ही सही अपनी जिजीविषा के कारण आज भी जीवित रह सका। शार्ङ्गधर, असाइत, श्रीधर, दलपत, चन्द्रबरदाई आदि ऐसे ही श्रेष्ठ कवि हैं जिन की रचनाएँ इस काल में हुई हैं। मुक्तक और प्रबन्ध, दोनों रूपों में यह साहित्य मिलता है तथा इन कवियों के द्वारा प्रयुक्त काव्य-रूप सर्वाधिक हैं जो आदि-कालीन साहित्यिक स्थिति को समझने में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्ध होते हैं। पृथ्वी-राज रासो, बीसलदेव रासो, विजयपाल रासो, आदि रासो ग्रन्थ, अनेक गीत और स्फुट रचनाएं इस साहित्य की विशेष निधि हैं।

डिंगल शब्द की व्युत्पत्ति

यह नाम पश्चिमी राजस्थानी अर्थात् मरुभाषा या मारवाड़ी के साहित्यिक रूप को दिया गया है और बहुत प्राचीन नहीं है। कोई उन्नीसवीं शताब्दी से यह व्यवहार में आने लगा है। सर्वप्रथम प्रयोग संवत् १८७२ में कविराजा बाँकीदास द्वारा 'कुकवि कवित्त' नामक ग्रन्थ में किया गया है।[1] तब से ही यह शब्द मार-वाड़ी साहित्य के लिए प्रयुक्त होता रहा है। डिंगल नाम इस भाषा का क्यों रखा गया इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता इसलिए अपनी बुद्धि और विचार के अनुसार इस सम्बन्ध में अनेक सुझाव दिये गए हैं। उनके वैविध्य के कारण किसी ठोस निर्णय पर पहुँचना आज अत्यन्त कठिन हो गया है। उनमें से कुछ विचार इस प्रकार हैं :

---

१. डॉ० मोतीलाल मेनारिया—राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृ० २०

१. डा० एल० पी० टैसीटरी—डिंगल शब्द का असली अर्थ अनियमित अथवा गँवारू था। ब्रजभाषा परिमार्जित थी और साहित्यशास्त्र के नियमों का अनुसरण करती थी। पर डिंगल इस सम्बन्ध में स्वतन्त्र थी इसलिए यह नाम पड़ा।[1]

इस मत की समीक्षा—(१) यह गंवारू भाषा नहीं बल्कि पढ़े-लिखे चारणों की भाषा थी जिनका और जिनकी कृतियों का राजदरबारों में पूरा सम्मान था। वहाँ की भाषा कभी गंवारू नहीं हो सकती।

(२) व्याकरण की विशुद्धता के साथ छन्द, रस, अलंकारों का वैसा ही ध्यान रखा जाता है जैसा ब्रजभाषा में। हाँ, शब्दों की तोड़-मरोड़ ब्रजभाषा से अधिक है पर वह गँवारूपन का द्योतक नहीं।[2]

२. हरप्रसाद शास्त्री—प्रारम्भ में इसका नाम डगल था, पर बाद में पिंगल शब्द के साथ तुक मिलाने के लिए डिंगल कर दिया गया। डिंगल किसी भाषा का नाम नहीं, कविता-शैली का नाम है।[3]

समीक्षा—

(१) डगल शब्द का सम्बन्ध डिंगल से नहीं सिद्ध होता।

(२) डिंगल बहुत उन्नत भाषा रही है, महज शैली नहीं।

३. गजराज ओझा—डिंगल में 'ड' वर्ण बहुत पाया जाता है। यह डिंगल की अपनी विशेषता हो गई है। 'ड' वर्ण की प्रधानता को ध्यान में रखकर ही पिंगल के साम्य पर इस भाषा का नाम डिंगल रखा गया है। जिस प्रकार बिहारी लकार-प्रधान भाषा है उसी तरह डिंगल भी डकार-प्रधान भाषा है।[4]

समीक्षा—(१) दो-चार पदों में 'ड' वर्ण की प्रधानता के आधार पर साधारण नियम नहीं बनाया जा सकता। (२) किसी खास वर्ण की प्रधानता के आधार पर भी भाषा का नाम नहीं रखा जाता। इस विचार से तो बिहारी में 'लकार' प्रधान होने से उसका नाम भी इस वर्ण पर होना चाहिए, जबकि ऐसा नहीं है।

४. पुरुषोत्तमदास स्वामी—डिम+गल=डिंगल। 'डिम' का अर्थ है डमरू की ध्वनि और 'गल' का अर्थ है गला। डमरू की ध्वनि रणचण्डी का आह्वान करती है तथा वह वीरों को उत्साहित करने वाली है। डमरू वीररस के देवता महादेव का बाजा है। गले से जो कविता निकलकर डिम्-डिम् की तरह वीरों

१. डॉ० मोतीलाल मेनारिया—राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृ० २१
२. वही पृ० २२
३. वही, पृ० २२
४. ना० प्र० पत्रिका—भाग १४, पृ० १२२-१२४

के हृदय को उत्साह से भर दे उसी को डिंगल कहते हैं। डिंगल भाषा में इस तरह की कविता की प्रधानता है। इसलिए वह डिंगल नाम से प्रसिद्ध हुई।[1]

समीक्षा—(१) न तो महादेव वीररस के देवता हैं और न डमरू की ध्वनि कहीं उत्साहवर्द्धक मानी गई है। वीररस के देवता इन्द्र हैं। शिव तो रौद्र-रस के देवता हैं। (२) डमरू की ध्वनि की तरह गले से ध्वनि निकलने की कल्पना भी हास्यास्पद है।

५. डिंगल के कवि पिंगल को पांगली (पंगु) भाषा मानते हैं और पिंगल के मुकाबले डिंगल को उड़नेवाली भाषा कहते हैं क्योंकि पिंगल की अपेक्षा डिंगल के व्याकरण, छन्दशास्त्र, आदि के नियम अधिक सुगम हैं और कवि की इच्छानुसार शब्दों के मनमाने प्रयोग की सुविधा भी इसमें बहुत है। इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है :

डगल से डिंगल
डग=पंख
ल =लिए हुए
डगल=पंख लिए हुए=पंखवाली=उड़नेवाली=स्वतंत्रता से चलनेवाली
=अर्थात् सुगमता से काम में आनेवाली।

(१) वास्तविकता यह है कि डिंगल के व्याकरण, छंद-शास्त्र आदि के नियम पिंगल से अधिक कठिन हैं। संख्या में भी ज्यादा हैं।

(२) डगल से डिंगल की व्युत्पत्ति भाषाशास्त्र की दृष्टि से अग्राह्य है।

६. डॉ० श्यामसुन्दर दास—(डॉ० ग्रियर्सन का भी यही मत है।)

जो लोग व्रजभाषा में कविता करते थे उनकी भाषा पिंगल कहलाती थी और उससे भेद करने के लिए मारवाड़ी भाषा का उसी ध्वनि से घड़ा हुआ डिंगल नाम पड़ा।

समीक्षा—डिंगल का साहित्य पिंगल के साहित्य के पूर्व से ही प्राप्त होता है इसलिए इस कल्पना का आधार अनुचित है।

७. डा० मोतीलाल मेनारिया—डींगल का परिवर्तित रूप डिंगल है। प्रारम्भ में वह डींगल ही बोला और लिखा जाता था। बाद में धीरे-धीरे यह डिंगल हो गया जिसका मूल कारण ग्रियर्सन आदि अंग्रेज लेखक हैं। डिंगल शब्द के उच्चारण से अनभिज्ञ होने के कारण इन्हें डींगल और पिंगल के उच्चारण में कोई अन्तर समझ में नहीं आया। इसलिए यह समझकर कि डींगल भी इसी तरह बोला जाता होगा, इन्होंने उसे डिंगल बोलना और लिखना शुरू कर दिया। इसी का अनुकरण हिन्दी में हुआ।

---

१. ना० प्र० पत्रिका—भाग १६, पृ० २५५

यह डींगल शब्द अनुकरणात्मक है जो शीतल, कोमल, धूमल आदि शब्दों के अनुकरण पर डिंगल साहित्य में वर्णित अत्युक्तिपूर्ण वृत्तों को ध्यान में रखकर उसकी इस विशेषता के द्योतनार्थ गढ़ लिया गया है। इसकी व्युत्पत्ति 'डींग' प्रत्यय के साथ 'ल' प्रत्यय जोड़ने से हुई है, जिसका अर्थ है डींग से युक्त अर्थात् अतिरंजनापूर्ण है।[1]

समीक्षा—विद्वानों के अनुसार इसमें 'ल' प्रत्यय नहीं बल्कि 'इल' प्रत्यय है। दूसरी बात, अतिरंजना किस साहित्य में नहीं मिलती! अतः सिर्फ डिंगल का ही नाम इसकी अतिरंजनाधिक्य के कारण पड़ा होगा, यह बात नहीं जंचती।

स्फुट मत

८. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी—डिंगल वस्तुतः राजस्थानी चारणों की राजस्तुति और वीर दर्पोक्तियों को वहन करने वाली भाषा का नाम है।[2]

९. डिंग + गळ = डिंगल

१०. डिंगि + गळ = डिंगल (मुंशी देवीप्रसाद)

११. 'डांग' से

१२. 'डींगे' धातु से (रायकर्ण आसोपा)

१३. 'डीङ्' धातु से (किशोरसिंह बारहठ)

१४. डिग + गल = डिंगल (जगदीशसिंह गहलोत)

इस प्रकार टेसीटरी के बाद से आज तक डिंगल शब्द की व्युत्पत्ति के बारे में अटकलें लगाई जा रही हैं। आज यह स्थिति है कि हर कोई मौलिकता-प्रदर्शन हेतु नवीन युक्ति से इस पर विचार कर रहा है। इससे यह प्रश्न अधिकाधिक उलझता जा रहा है और अपने मूल उद्देश्य से हट रहा है। यह कहना असंगत नहीं होगा कि इस सम्बन्ध में आजकल कोई सर्वसम्मत हल नहीं निकल पाया है और भविष्य में भी निकल पायगा, इसका पूरा सन्देह है।

'रासो' शब्द की व्युत्पत्ति

वीरगाथाओं के पाठक के समक्ष यह प्रश्न विशेष महत्त्व रखता है कि इस साहित्य के पीछे आने वाला 'रासो' शब्द किसे प्रकट करता है। विद्वानों ने इस सम्बन्ध में नए अनुमान किये हैं जो इस प्रकार हैं :

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल — रसायन से

२. गार्सां द तासी — राजसूय से

---

१. डा० मोतीलाल मनेरिया—राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृ० २८

२. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी—हिंदी साहित्य, पृ० ६७

३. कविराजा श्यामलदास — रहस्य से
४. नरोत्तम स्वामी — रसिक से

किन्तु ये सभी मत आज स्वीकार्य नहीं हैं। वस्तुतः रास शब्द की व्युत्पत्ति 'रासक' शब्द से हुई है। आ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, आचार्य चन्द्रबली पाण्डेय, डॉ० दशरथ शर्मा, डॉ० दशरथ ओझा इत्यादि विद्वान् इसी मत के पोषक हैं।

'रासो' शब्द के विविध रूप—'रासो' शब्द का उल्लेख विविध प्रकार से मिलता है जैसे रासउ, रासक (सन्देशरासक), रास (भरतेश्वर बाहुबली रास), रासो (पृथ्वीराज रासो)। इसी प्रकार ग्रन्थों के भीतर रासह, रासु शब्द भी मिलते हैं। इसलिए इसे जानना जरूरी है कि रासो शब्द के लिए प्रयुक्त ये नाम विविधता को प्रकट करते हैं या एक ही भाव को प्रकट करने वाले किसी शब्द के विविध रूप हैं? अब हम इसी पर विचार करेंगे।

विविध नामों की विवेचना—नरोत्तम स्वामी ने यह बतलाने का प्रयास किया है कि वीररस-प्रधान काव्य को रासो कहा जाता था और वीररस से इतर काव्यों को रास की संज्ञा दी जाती थी। किन्तु यह धारणा गलत है। क्योंकि बहुत से रासो ग्रन्थ वीररस से सम्बन्धित नहीं हैं (जैसे बीसलदेव रासो) तो दूसरी ओर ऐसे रास ग्रन्थ भी प्राप्त होते हैं जो वीररस से सम्बन्धित हैं (जैसे भरतेश्वर-बाहुबली रास)। इसलिए वीररस को आधार मानकर किया गया रास और रासो का यह विभाजन अयुक्तिसंगत है। डॉ० मोतीलाल मेनारिया के अनुसार "अपभ्रंश, हिन्दी, राजस्थानी, गुजराती इत्यादि के प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों में यह शब्द कई तरह से लिखा मिलता है: रास, रासक, रासो, राइसो, राइसौ, रायसो, रायसौ, रासौ, रासउ, रासु।"[1] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि एक ही रचना को रास, रासक, रासउ या रासु कहने की परिपाटी रही है। यह प्रथा प्राचीन काल से ही चली आ रही है। इसलिए "इन प्रमाणों से सिद्ध होता है कि रास, रासक और रासो एकार्थवाची हैं। इनमें कोई भेद नहीं। ऐसा प्रतीत होता है कि रास से रासक शब्द बना और वही रासक>रासअ>रासउ से रासो बन गया।"[2]

रासो शब्द का विकास—ओझाजी के उपर्युक्त मत से रासो शब्द के अर्थ-विकास के निम्न सोपान स्वयं सिद्ध हो जाते हैं:

१. प्रारम्भ में यह शब्द रास का परिचायक था।

२. रास से रासक शब्द बना। यहाँ रास की गेयता-नृत्यात्मकता के साथ कुछ और तत्त्व समाहित हुए।

---

१. डॉ० मोतीलाल मेनारिया—राजस्थान का पिंगल साहित्य, पृ० २४
२. डॉ० दशरथ ओझा—रास और रासान्वयी काव्य, पृ० २

३. रासक से ही रासउ होते हुए यह शब्द रासो बना जहाँ आकर उसमें पर्याप्त अर्थ-परिवर्तन हुआ।

रास को आधार मानकर ही रासो शब्द की व्याख्या की गई है इसलिए रास को जान लेना आवश्यक है। डॉ० मोतीलाल मेनारिया ने इस सम्बन्ध में कहा है—"रासो शब्द संस्कृत के रास से बना है जिसका अर्थ आचार्य हेमदेव और कोशकार पुरुषोत्तम देव दोनों ने 'ग्वालों की क्रीड़ा' तथा 'भाषा में शृंखलाबद्ध रचना' बतलाया है।"[1] इसी प्रकार रास शब्द की शाब्दिक व्याख्या गर्जना या ध्वनि के अर्थ में भी की गई है। रास में गेयता और नाट्यतत्त्व सन्निहित रहता है। शायद इन्हीं तत्त्वों ने आगे जाकर रास छन्द को साकार किया होगा। एक बार रास छन्द के निर्माण हो जाने पर उसका उसमें गेयता, नृत्य के साथ कथा का सहयोग भी हुआ। इस प्रकार रासक का स्वरूप-निर्धारण हुआ। नाट्यशास्त्र में रासक एक नाट्यभेद के रूप में स्थित हुआ और उसके आधार पर कथायुक्त रासो काव्यों की रचना हुई। ओझाजी के अनुसार "रास का अर्थ है गरजना, ध्वनि। सम्भवतः इस अर्थ को सामने रखकर प्रारम्भ में रास छन्द की योजना की गई होगी। किन्तु साथ ही रास एक प्रकार के नृत्य के रूप में भी प्रचलित था। किसी समय नृत्य के अनुरूप रास छन्द की योजना हुई होगी। सामूहिक नृत्य के अनुकूल रास छन्द के मिल जाने पर तदनुरूप कथावस्तु की योजना की गई होगी। इस प्रकार तीनों के मिलन से भरतमुनि के लक्षण के अनुसार रासक उपरूपक माना गया होगा।"[2]

रासो तक आते-आते निश्चित रूप से इस रासक के अर्थ में परिवर्तन हो गया। उस परिवर्तन को स्पष्ट करते हुए मेनारियाजी ने कहा है—"वास्तव में यह शब्द 'रास' ही से बना है। प्रारम्भ में इससे एक साधारण पद्यकृति या कथाकाव्य का बोध होता था। परन्तु बाद में जब राजाश्रित कवियों ने अपने आश्रयदाता राजा-राजाओं की प्रशंसा में लिखे तब से इसके अर्थ में परिवर्तन होने लगा और अब यह शब्द एक विशेष शैली पर लिखे गए किसी राजा अथवा राजघराने के प्रतिष्ठित व्यक्ति के पद्यात्मक जीवनचरित्र का द्योतक बन गया है।"[3]

रासो का काव्यरूप—रासो में रास और रासक के तत्त्वों के साथ काव्य की दृष्टि से छन्दवैविध्य भी अनिवार्य है। काव्यरूप की दृष्टि से विद्वानों ने इसके स्वरूप पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। रासक अपनी गेयता के कारण प्रारम्भ में गेयरूपक था। "हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन में रासक को गेयरूपक

---

१. डॉ० मोतीलाल मेनारिया—राजस्थान का पिंगल साहित्य, पृ० २४
२. डॉ० दशरथ ओझा—रास और रासान्वयी काव्य, पृ० १२
३. डॉ० मोतीलाल मेनारिया—राजस्थान का पिंगल साहित्य, पृ० २५

माना है। मसृण अर्थात् कोमल, उद्धत और मिश्र। रासक मिश्र-गेयरूपक है।"[१] किन्तु धीरे-धीरे इस शब्द का प्रयोग घिसकर भिन्न अर्थ देने लगा। रासक शब्द फिर चरितकाव्य के लिए प्रयुक्त होने लगा। "जिस प्रकार 'विलास' नाम देकर चरितकाव्य लिखे गए, रूपक नाम देकर चरितकाव्य लिखे गए, 'प्रकास' नाम देकर चरितकाव्य लिखे गए उसी प्रकार 'रासो' या 'रासक' नाम देकर भी चरितकाव्य लिखे गए। जब इन काव्यों के लेखक इन शब्दों का व्यवहार करते होंगे तो अवश्य ही उनके मन में कुछ न कुछ विशिष्ट काव्यरूप रहता होगा। राजपुताना के डिंगल-साहित्य में परवर्ती काल में ये शब्द साधारण चरितकाव्य के समानान्तर हो गए थे।"[२]

डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने रासो के काव्य-रूप की चर्चा करते हुए उसके दो भेदों का उल्लेख किया है। भेद का आधार छन्द मानते हुए उन्होंने कहा है— " 'रास', 'रसायन', 'रासक', 'रासा' और 'रासो कही' जाने वाली रचनाएँ अपभ्रंश तथा हिन्दी साहित्य में दो प्रकार की मिलती हैं—एक प्रकार की, बहुरूपक (छन्द)-निबद्ध हैं—उनमें अनेक प्रकार के छन्दों का प्रयोग हुआ मिलता है, और उनमें छन्द-परिवर्तन द्रुतगति से होता दिखाई पड़ता है। दूसरे प्रकार की रचनाएँ अल्प-रूपक (छन्द)-निबद्ध हैं—उनमें दो-चार प्रकार के छन्द ही प्रयुक्त मिलते हैं और छन्द-परिवर्तन केवल एकरसता-निवारण के लिए अत्यल्प में किया गया दिखाई पड़ता है।"[३] इस प्रकार रासक में चरितकाव्य, गीतिकाव्य, नृत्य आदि के लक्षणों के साथ छन्द-वैविध्य भी पाया जाता है। 'रासक' या 'रासो' के सम्बन्ध में अब यह निश्चित ही हो गया है कि वह एक छन्दवैविध्य-प्रधान काव्यरूप था और इसी रूप में वह प्राकृत अपभ्रंश साहित्यकाल से हिन्दी के रीति-काल तक विकसित होता रहा।"[४]

रास की रचना-पद्धति

आचार्य द्विवेदी ने कहा है कि रासो या रासक शब्द चरितकाव्य का परिचायक है। रासक शब्द नाट्यशास्त्र में दो रूपों में व्यवहृत हुआ है—नृत्य और नाट्य। लेकिन रासक को गेयकाव्य का स्तर हेमचन्द्र के समय तक ही प्राप्त हो सका। आगे चलकर रासक उपरूपक की कोटि में गिना जाने लगा। विश्वनाथ ने भी रासक को उपरूपक के रूप में प्रकट किया है। अपभ्रंश में रासक का स्वरूप बहुत कुछ भिन्न हुआ। स्वयम्भू के अनुसार जिस काव्य में घत्ता, छड्डणिया,

---

१. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी—हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ० ६८
२. वही, पृ० ६६
३. डॉ० माताप्रसाद गुप्त—बीसलदेव रास, पृ० ६०
४. वही, पृ० ७०

पद्धड़िया तथा अन्य सुन्दर छन्दबद्ध रचना हो, जो जन-साधारण को मनोहर प्रतीत होती हो उसे रासक कहते हैं। यहाँ आकर रासक की छन्दोबद्धता को प्रकट किया जाने लगा। इस प्रकार रास एक नृत्य से विकसित होकर हिन्दी तक आते-आते रासक के रूप में एक उपरूपक बनकर प्रतिष्ठित हो चुका था। इसकी एक विशिष्ट रचना-पद्धति थी जिसका पालन संस्कृत के प्रबन्धों से भिन्न प्रकार से किया जाता था।

अपभ्रंश के प्रसिद्ध विद्वान् श्री हरिवल्लभ भायाणी ने रास के रचना-बन्ध पर इस प्रकार प्रकाश डाला है :

१. इनका विभाजन सन्धियों में रहता है।
२. प्रत्येक सन्धि १२ से ३० तक कड़वकों में निबद्ध रहती है।
३. कड़वक के बाद घत्ता रहता है जो अन्य छन्द में रहता है।
४. कड़वक के प्रारम्भ में भी ध्रुवक के दो चरण प्रायः आते हैं।
५. सन्धि की संख्या १०० तक मिलती है पर बाद में लघुकाय चरितकाव्य लिखे गए जिनमें सन्धि की संख्या ४ से १० तक रहती है।
६. केवल एक सन्धि तक के आकार वाली रचनाएँ भी मिलती हैं।
७. सन्धि के कड़वकों की रचना प्रायः एक ही छन्द में की जाती है।
८. घत्ता के रूप में भी प्रायः एक ही छन्द का प्रयोग एक सन्धि में होता है।

"रास की रचना-पद्धति के विषय में श्री केशवराम शास्त्री का कथन है कि अपभ्रंश महाकाव्य के स्थान पर रास काव्यों की रचना होने लगी। इस शैली के काव्य में सन्धियाँ विलीन होने लगीं और कड़वा, भासा, ठवणि या ढाल में विभाजित गेय रासो काव्य प्रचार में आए और ये ही काव्य कालान्तर में विकसित होकर पौराणिक पद्धति के कड़वाबद्ध (जैनेतर) या ढालबद्ध (जैन) आख्यान काव्यों में परिणत हुए।"[1] किन्तु ओझाजी इस मत का विरोध करते है और यह प्रकट करते हैं कि रेवंतगिरि रासु आदि महाकाव्य इस प्रकार विभाजित नहीं हैं और वह ध्रुवक + कड़वक + घत्ता इन तीन रूपों में विभाजित न होकर केवल कवड़कों में विभक्त हैं। इसी प्रकार 'समरारास' केवल भास में विभक्त है। अतः उनके अनुसार "इससे प्रमाणित होता है कि अपभ्रंश काव्यों की तरह रासक काव्यों का भी एक निराला प्रकार है। उसे संस्कृत खण्डकाव्य की कोटि का कहा जा सकता है।"[2]

---

१. रास और रासान्वयी काव्य, पृ० २०
२. वही, पृ० २१

चरिउ ग्रौर रास काव्य में ग्रन्तर

रास भी एक चरितकाव्य ही है किन्तु चरिउ से उसमें पर्याप्त भिन्नता है। चरित शब्द प्राचीन साहित्य में कथा के ग्रर्थ में प्रयुक्त हुग्रा है। तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' को चरित मानते हुए भी कथा कहा है। कथा शब्द का ग्रर्थ व्यापक रूप में हुग्रा है। द्विवेदीजी के ग्रनुसार "पुराने साहित्य में कथा शब्द का व्यवहार स्पष्ट रूप में दो ग्रर्थों में हुग्रा है—एक तो साधारण कहानी के ग्रर्थ में ग्रौर दूसरा, ग्रलंकृत काव्य के ग्रर्थ में।"[1] इस प्रकार कथा शब्द यद्यपि रासो ग्रौर चरिउ दोनों ग्रन्थों में पाया जाता है किन्तु इस ग्राधार पर दोनों में ग्रभिन्नता स्थापित करना गलत है। यह ग्रन्तर इस प्रकार है[2]—

कथावस्तु के चयन को लेकर ग्रन्तर—चरिउ में चरितनायक के समस्त जीवन को महत्त्व दिया जाता है तो रास में सिर्फ उन्हीं घटनाग्रों को समेटा जाता है जो नायक के जीवन को नया मोड़ देती हैं।

काव्य के विभाजन को लेकर ग्रन्तर—चरिउ का विभाजन सर्गों, सन्धियों एवं काण्डों में किया जाता है लेकिन रास का विभाजन ठवणि में होता है "ग्रौर ठवणि को फिर वाणि, वस्तु, घात ग्रादि में विभाजित कर लेते हैं।"

'फागु' का साहित्यरूप

राजस्थानी साहित्य की गौरवपूर्ण परम्परा में रासो ग्रन्थों के साथ 'फागु' ग्रन्थों का भी विशेष सहयोग रहा है। रासो, विलास, प्रकास की कोटि का यह चरितकाव्य नहीं है। इसकी प्रकृति भी चरितकाव्य के ग्रनुकूल नहीं है। इसका निर्माण वसन्तश्री की शोभा के साथ मानवमन में उद्भूत ग्राह्लाद के कारण होता है। इसलिए इसमें एक ग्रोर प्रकृति की शोभा, सुन्दरता ग्रौर सुषमा की झाँकी रहती है तो दूसरी ग्रोर मानवमन की परिहासप्रियता, शृंगारिकता ग्रौर विनोदप्रियता की ग्रभिव्यक्ति होती है।

फागु शब्द संस्कृत के फल्गु (वसंत) से बना है। हिन्दी ग्रौर मारवाड़ी में होली के ग्रशिष्ट गीतों के लिए फाग शब्द का प्रयोग मिलता है। वैसे भी वसंत से सम्बन्धित होने के कारण फागु में प्राकृतिक छटा के साथ मानवीय भाव भी रहते हैं। उपलब्ध फागुग्रों में से ग्रधिकांश जैन धर्म से सम्बन्धित हैं किन्तु उनमें ग्रतिशृंगारिकता के दर्शन नहीं होते। "ऐसा प्रतीत होता है कि लोगों में से ग्रसभ्य वाणी दूर करने के लिए कच्छ, काठियावाड़, मारवाड़ ग्रौर मेवाड़ ग्रादि स्थानों में जैन मुनियों ने परिमार्जित, परिष्कृत एवं रसिक 'नेमिफागु' की

1. ग्राचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी—हिन्दी साहित्य का ग्रादिकाल
२. देखिए रास ग्रौर रासान्वयी काव्य, पृ० १५

रचना की और इसके उपरान्त फागु में धार्मिक कथानकों का कथावस्तु के रूप में उपयोग होने लगा।"[1]

फागु एक प्रकार का लोक-साहित्य है किन्तु क्रमशः यह शिष्ट साहित्य का रूप ग्रहण करने में सफल रहा है। वसन्तोत्सव के नृत्य और गीत इसके प्रधान तत्त्व हैं। किन्तु धीरे-धीरे उनकी अभिनेयता समाप्त हो गई। "एक समय ऐसा आया कि फागु की अभिनेयता गौण हो गई और वे केवल पाठ्य रह गए।"[2] इनमें क्रमशः छन्द-वैविध्यता और आलंकारिकता का समावेश हुआ और वे सम्पूर्ण रूप से साहित्यिक आकार को प्राप्त हुए। भाषा की दृष्टि से भी उनमें क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ।

डिंगल साहित्य की विशेषताएँ

"भक्तिरस का काव्य तो भारतवर्ष के प्रत्येक साहित्य में किसी-न-किसी कोटि का पाया जाता है। राधाकृष्ण को लेकर हरएक प्रान्त ने मंद या उच्च कोटि का साहित्य पैदा किया है। लेकिन राजस्थान ने अपने रक्त से जो साहित्य-निर्माण किया उसके जोड़ का साहित्य और कहीं नहीं पाया जाता और उसका कारण है राजस्थानी कवियों ने कठिन सत्य के बीच में रहकर युद्ध के नगाड़ों के बीच अपनी कविताएँ बनाई थीं। प्रकृति का तांडवरूप उनके सामने था। क्या आज कोई केवल अपनी भावुकता के बल पर फिर वही काव्य-निर्माण कर सकता है।"[3] कवीन्द्र रवीन्द्र की ये पंक्तियाँ राजस्थानी साहित्य के महत्त्व के प्रतिपादन के लिए पर्याप्त हैं। यह साहित्य जिन कवियों के द्वारा लिखा गया था वे लेखनी और तलवार दोनों के धनी थे। इसलिए इस साहित्य में केवल कल्पनाओं की उड़ानें नहीं हैं अपितु वास्तविकता की कठोर भूमि भी है। संघर्ष भी उतने ही सहज रूप में प्रकट हुआ जितनी सहजता से जीवन का सौंदर्य प्रकट हुआ है। इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि भारतवर्ष के इतिहास में ऐसा साहित्य अन्यत्र दृष्टिगत नहीं होता। "इस साहित्य में जो भाव है, जो उद्वेग है, वह राजस्थान का खास अपना है। वह केवल राजस्थान के लिए ही नहीं सारे भारतवर्ष के लिए गौरव की वस्तु है।"[4] आदिकाल के समस्त साहित्य में यह साहित्य सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस साहित्य को ही आदिकाल का वास्तविक साहित्य मानकर उस काल का नाम भी इस साहित्य की प्रमुख प्रवृत्ति

---

१. रास और रासान्वयी काव्य, पृ० ६४
२. वही, पृ० ६१
३. रवीन्द्रनाथ ठाकुर—राजस्थान का पिंगल साहित्य, पृ० ८ से उद्धृत
४. वही, पृ० ६ से उद्धृत

के आधार पर वीरगाथाकाल रखा था। आज यद्यपि शुक्लजी की मान्यता बहुत अधिक स्वीकार्य नहीं है तथापि जैन और बौद्ध साहित्य के समाहित कर लिए जाने पर भी, इसी साहित्य पर सर्वाधिक दृष्टि केन्द्रित होती है। आज तक कई विद्वान् आदिकाल के लिए वीरगाथाकाल नाम का ही प्रयोग करते हैं। राजस्थानी की यह अन्तःसलिला आज तक प्रवाहित होती रही है किन्तु उसका वैशिष्ट्य तो आदिकाल में ही प्रकर्ष रूप में दृष्टिगत हुआ था। इस साहित्य की विशेषताएँ निम्न प्रकार हैं :

ओजपूर्ण कविता

डिंगल साहित्य का इतिहास उस समय से शुरू होता है जब गहलोत, चौहान आदि राजपूत राजवंशों के राज्य राजस्थान में पूरी तरह से स्थापित हो चुके थे और मुसलमानों के साथ इनका संघर्ष शुरू हो गया था। यह एक भीषण हलचल-भरा और घोर अशान्ति का युग था और अपने राज्यों की रक्षा के लिए राजा-महाराजाओं को हमेशा कमर कसकर युद्ध के लिए तैयार रहना पड़ता था। इसलिए सैन्यबल तथा शस्त्रबल के सिवा उन्हें कवियों की भी आवश्यकता रहती थी, जो अपनी ओजस्विनी वाणी द्वारा उन्हें तथा उनके सैनिकों को प्रोत्साहित करते थे।[1] इनके साहित्य की ओजस्विता कायरों और भीरुओं को भी उत्साहित करने में समर्थ थी।

विपुल साहित्य

अपने आश्रयदाताओं के कीर्ति-कथन में इन चारण-भाटों ने सैकड़ों नहीं, बल्कि हजारों ग्रन्थों की रचना की जिनमें से बहुत से तो काल-कवलित हो चुके और बहुत-से विद्यमान हैं। डिंगल के फुटकर गीत, कवित्त, दोहा आदि तो इतनी प्रचुर मात्रा में मिलते हैं कि उनकी संख्या का अनुमान लगाना कठिन है।[2] रासो के नाम से विविध प्रबन्ध-काव्यों की रचना भी इन कवियों ने की है। आदिकाल का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और विवादास्पद, विशालतम प्रबन्धकाव्य 'पृथ्वीराज रासो' भी डिंगल साहित्य की अमूल्य निधि है। इसी प्रकार बीसलदेव रासो, ढोलामारू रा दूहा, विजयपाल रासो आदि महत्त्वपूर्ण कृतियाँ भी डिंगल साहित्य की ही देन हैं। इन्हीं के आदर्शों पर लिखे गए धार्मिक, शृङ्गार-प्रधान, प्रेमपूर्ण काव्य भी विपुल मात्रा में मिलते हैं। रास, रासक, चरिउ, प्रकास, विलास, दूहा, दोहरा, रूपक, वचनिका, नीसाणी, वेल, गीत, कवित्त, झूलणा इत्यादि नामों से

१. डॉ० मोतीलाल मेनारिया—राजस्थानी साहित्य की रूपरेखा, पृ० २२
२. वही, पृ० २१

भी अनेक ग्रन्थ मिलते हैं। यही नहीं हिन्दी साहित्य का प्रारम्भिक गद्य साहित्य भी डिंगल में ही मिलता है। पट्टे, परवाने, बात, ख्यात, विगत, पीढ़ी, वंशावली इत्यादि रूपों में यह गद्य साहित्य मिलता है। इन सबसे परे जैनों का राजस्थानी में लिखा हुआ साहित्य गद्य-पद्य दोनों में प्राप्त होता है।

चारण एवं भाट कवि

इन रचनाओं के कवि प्रायः चारण या भाट हुआ करते थे। ये कवि अपने आश्रयदाताओं के युद्धों, प्रेम-प्रसंगों का अतिरंजनापूर्ण वर्णन करते थे। इनकी रगों में स्वामीभक्ति की भावना कूट-कूटकर भरी रहती थी। डॉ० रामकुमार वर्मा ने इन कवियों के नाम पर ही आदिकाल का नाम 'चारणकाल' रखा है। इससे इनकी महत्ता स्वयंमेव प्रकट हो जाती है। डिंगल भाषा के उदय से पहले राजस्थान के राजाओं के दरबारों में मुख्यतः संस्कृत के कवियों को सम्मान प्राप्त था। लेकिन डिंगल के विकसित होने पर इसको भी राजसभाओं में पर्याप्त स्थान मिला और यह कार्य इन्हीं चारणों आदि जातियों के कवियों के द्वारा सम्पन्न हुआ। यद्यपि अन्य जातियों के कवियों ने भी डिंगल में रचनाएँ की हैं पर वह संख्या में बहुत थोड़ा है। साहित्य-सृजन उस समय चारण ही करते थे। 'चारयन्ति कीर्तिम् इति चारणाः' अर्थात् कीर्ति का संचार करने वाले ही चारण हैं। यह जाति बहुत प्राचीन है। वाल्मीकि रामायण और महाभारत में भी इस जाति का उल्लेख मिलता है। इनका राजदरबारों में बड़ा सम्मान था। 'यह कार्य उस समय चारण भाट आदि किया करते थे, जो बड़े विद्वान् होते थे जिनका राजदरबारों में बड़ा सम्मान होता था। काव्यसृजन ही एक प्रकार से इनका व्यवसाय था। राजाओं की स्तुतियाँ भी धन-प्राप्ति के लोभ से ही की जाती थीं। लेकिन उसके लिए ये पहले संस्कृत, प्राकृत आदि भाषा और साहित्य का अच्छा अध्ययन करते थे। इनका साहित्य इसलिए सुनिश्चित पृष्ठभूमि रखता था। चारण-भाटों के अलावा ऐसी कविता करने वाली जातियाँ और भी थीं जिनमें राव, मोतीसर, ढाढ़ी आदि प्रमुख हैं।

युद्ध का सजीव वर्णन

युद्धों का वर्णन इन ग्रंथों में जितने कौशल से हुआ है कदाचित् उतने कौशल से संस्कृत-साहित्य में भी नहीं हुआ। ये कवि स्वयं योद्धा भी होते थे। युद्धभूमि में जाकर वीरों को उत्साहित करना, वंशगौरव और स्वदेश की आनबान का बारम्बार बोध कराना तथा इसके अतिरिक्त युद्ध में स्वयं उपस्थित होकर एक योद्धा के रूप में भाग लेना इनका कार्य था। इसलिए इन कवियों द्वारा प्रस्तुत युद्ध के दृश्य कोरी कल्पना मात्र नहीं हैं। बल्कि ये युद्ध उनकी अपनी आँखों से देखे हुए होते थे। "कहने की आवश्यकता नहीं कि ये चारण-भाट कवि जिन

राजा-महाराजाओं की प्रशंसा में ग्रंथ लिखते थे प्रायः उनके समसामयिक होते थे और बहुधा आँखों-देखी घटनाओं का वर्णन करते थे। चंद आदि कुछ कवि तो ऐसे भी हुए, जो युद्ध, आखेट आदि में अपने चरितनायकों के साथ रहते थे और स्वयं इन कार्यों में भाग लेते थे।"[1]

वीररस के साथ शृङ्गार रस का अद्भुत सम्मिश्रण

युद्ध, आखेट आदि के वर्णन इनके ग्रंथ में प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। ऐसे वर्णनों में वीररस की निष्पत्ति सुन्दर ढंग से हुई है। "डिंगल कविता प्रधानतया वीर-रसात्मक है। दान-वीर, धर्म-वीर, युद्ध-वीर तथा दया-वीर सभी का इसमें बहुत सजीव और स्वाभाविक वर्णन मिलता है। वीर-रस का वर्णन संस्कृत, बंगला, हिन्दी आदि अन्य भारतीय भाषाओं के कवियों ने भी किया है। परन्तु उनके वर्णन में वह ओज और सचाई नहीं है जो डिंगल के कवियों में पाई जाती है।"[2] वीररस का स्थायीभाव उत्साह है और उसको इस साहित्य में विकसित होने का पूरा अवसर मिला है। यह साहित्य मुख्यतः अपने आश्रय-दाता राजाओं को आश्रय मानकर लिखा गया था। "हमारी इन पाँच सदियों में सामन्त वस्तुतः निर्भय वीर होते थे। उनकी देश-विजयों के बारे में कवि अति-शयोक्ति भले ही कर सकता है लेकिन शरीर पर तीरों और तलवारों के घावों के चिह्नों के बारे में अतिरंजना की जरूरत नहीं थी। ऐसे समाज के लिए वीर-रस की कविताएँ बिलकुल स्वाभाविक हैं।"[3] युद्ध जब स्वभाव ही बन जाए तो फिर वीररस के साहित्य का उभरकर आना असंगत क्यों होगा? इस तरह युद्ध करना राजाओं-सामन्तों और राज्याश्रित सरदार-सैनिकों का स्वभाव ही बन गया था। यह उनके अस्तित्व के लिए एक अनिवार्य कर्तव्य हो गया था। ऐसी स्थिति में उन्हें प्रोत्साहित करने, वीर-भावना उत्पन्न करने और यश अमर करने वाले कवियों की भी आवश्यकता थी।[4]

युद्ध का एक कारण सुन्दरी नारी भी था। और युद्ध के बाद नारी के साहचर्य-सुख में ही अपने कष्ट और परिश्रम को कम किया जा सकता था। फलतः इस वीररस की क्रोड़ में कभी-कभी शृङ्गार रस भी दिखाई देता है। शृङ्गार के संयोग पक्ष की ही अभिव्यक्ति अधिक हुई है। युद्ध में खोये रहने वाले के लिए नारीविरह का क्या महत्त्व है, शायद इसीलिए विप्रलम्भ शृङ्गार की उपेक्षा की गई है। विवाह-प्रसंगों, केलि-क्रीड़ाओं, नख-शिख-निरूपण, षड्ऋतु वर्णन आदि

---

१. डॉ० मोतीलाल मेनारिया—राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृ० २३
२. वहीं, पृ० ७२
३. राहुल सांकृत्यायन—हिन्दी काव्यधारा, पृ० २६
४. डॉ० शम्भूनाथ सिंह—हिन्दी महाकाव्यों का स्वरूप-विकास, पृ० २११

के द्वारा इस रस का परिपाक हुआ है। इस प्रकार वीररस के साथ शृङ्गार का सन्निश्रण सिर्फ डिंगल साहित्य की ही विशेषता है।

करुण, रौद्र, भयानक, अद्भुत इत्यादि रसों की निष्पत्ति भी प्रसंगानुसार हुई है।

इतिहास की उपेक्षा

इन कवियों का मुख्य ध्येय अपने आश्रयदाता को प्रसन्न करना था क्योंकि उनकी अनुकूलता का सीधा सम्बन्ध कवियों की अर्थ या यश प्राप्ति था। अतः अप्रत्यक्षतः ये साहित्य आश्रयदाता की रुचि और इच्छा के अनुकूल लिखे जाते थे जिसके परिणामस्वरूप इनके साहित्य में कवि-हृदय की गहरी अनुभूति अनुपस्थित हो गई। कवि मात्र ऊपरी अभिव्यक्ति में ही खो गया। "यही कारण है कि इन राज्याश्रित कवियों की रचनाओं में आत्मानुभूति तथा आत्म-विस्मृति की वह अक्षय छाप हमें नहीं दीख पडती जिसके दर्शन तुलसी, मीरां, सूर आदि भक्त कवियों की रचनाओं में पग-पग पर होते हैं।"[1] कवियों ने अपने आश्रयदाता की प्रशंसा बढ़ा-चढ़ाकर की है। इसके लिए कल्पना का सहारा ही अधिक लिया गया है। इसी से इनमें अपने स्वामी द्वारा जीते-अनजीते युद्धों का अतिरंजनापूर्ण वर्णन करने की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। कवियों ने ऐसे प्रसंगों में इतिहास की पूर्ण उपेक्षा की है—"कथा का स्वरूप अधिकतर कल्पना से ही निर्मित हुआ करता था। यद्यपि ऐतिहासिक घटनाओं का विवरण भी उसमें प्राप्त होता है पर उसका विस्तार और वर्णन कल्पना के सहारे ही किया जाता था। तिथि पर भी कोई विशेष ध्यान नहीं दिया जाता था।"[2]

काव्यरूप

इस साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता विविध काव्य-रूपों का प्रयोग है। अपभ्रंश के जैन-काव्यों को छोड़कर उतनी विविधता अन्यत्र नहीं दिखाई पड़ती। जैन साहित्य से भी तुलनात्मक दृष्टि से डिंगल का साहित्य इस दृष्टि से अधिक विशिष्ट है। राजस्थान में इन काव्यरूपों की एक सुदीर्घकालीन परम्परा रही है और इनमें से कई का उपयोग तो आधुनिक काल तक होता रहा है। डिंगल के काव्यरूप मुख्यतः दो आधार पर शीर्षक ग्रहण किए हुए हैं :

१. चरितनायकों के आधार पर—

रासो—पृथ्वीराज रासो, रायमल रासो आदि

प्रकास—रघुवरजस प्रकास, सूरज प्रकास आदि

विलास—राजविलास, जगविलास आदि

---

१. डॉ० मोतीलाल मेनारिया—राजस्थानी साहित्य री रूपरेखा, पृ० २४
२. डॉ० रामकुमार वर्मा—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० १८६

रूपक—रघुनाथ रूपक, रतन रूपक आदि
वचनिका—अचलदास खीचीरी वचनिका आदि ।
२. छन्दों के आधार पर—
नीसाणी—गोगोजी चहुआण री नीसाणी आदि
झूलणा—सोढ़ा रा झूलणा, राजसिंघ रा झूलणा आदि
गीत—सींधलो रा गीत आदि
कुण्डलिया—हालाझाला री कुंडलिया आदि
दूहा—ढोलामारू रा दूहा आदि
कवित्त—महाराज अभैसिंह जी रा कवित्त आदि
वेलि—वेलि क्रिसन रुकमणी री आदि ।

छंद-विधान

इस साहित्य के निर्माता कवियों ने अपने काव्य की प्रकृति के अनुरूप छन्द का चयन किया है । संस्कृत के छंदों के साथ भाषा के छन्दों का प्रयोग भी किया गया है । 'गीत' नामक छंद डिंगल का अपना छंद है जिसके चोटीवंध, त्रंवकड़ो, त्रुटकवंध, पालवणी, छोटो साणोर, सुपंखड़ो, सावझड़ो, मारड़वी आदि भेद हैं। संस्कृत के वर्ण-वृत्तों में शार्दूल विक्रीड़ित, भुजंगप्रयात आदि अधिक प्रयुक्त हुए हैं । इसी प्रकार छप्पय, पद्धरी, दूहा, कवित्त, सोरठा, रोला आदि का प्राधान्य दिखाई देता है । छंदपूर्ति के लिए शब्दों के साथ बलात्कार किया गया है । अर्थात् यति मात्रा आदि के नियमों को सफाई से ध्यान में रखा गया है और आवश्यकता पड़ने पर शब्दों को तोड़ा-मरोड़ा भी गया है। छंदों में प्रवाह अवश्य है पर साहित्यिक सौंदर्य का निर्वाह नहीं हो पाया है । "इन छन्दों में साहित्यिक सौंदर्य न रहते हुए भी प्रवाह रहता था। छंद भी ऐसे चुने जाते जिनसे वीररस की भावना को प्रश्रय मिलता था।"[1] पृथ्वीराज रासो डिंगल के कवियों द्वारा प्रयुक्त छंदों की दृष्टि से आदर्श है। इसमें विविध छंदों का प्रयोग हुआ । लेकिन छप्पय की ओर कवि की विशेष रुचि है । वह वार-वार इसका प्रयोग करता है। चंदवरदाई छप्पयों का राजा था। बहुत पहले शिवसिंह ने यह वात लिखी थी और रासो असल में छप्पयों का ही काव्य है । कविराज श्यामलदास तो रासो में छप्पय और दोहा के अतिरिक्त और किसी छंद का अस्तित्व ही नहीं मानते, और वैसे तो हर तलवार की झंकार में चंदवरदाई तोटक, तोमर, पद्धरी और नाराच पर उतर आते है, पर जमकर वे छप्पय और दूहा ही लिखते हैं।"[2]

---

१. डॉ० रामकुमार वर्मा—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० १८८
२. आ० हजारीप्रसाद द्विवेदी—हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ० १०४

भाषा-सौष्ठव

भाषा के सम्बन्ध में ये कवि निरंकुश होते थे।[1] इसका मुख्य कारण पांडित्य-प्रदर्शन या छंद-पूर्ति की भावना है। इन कवियों के समक्ष अपनी विद्वता का प्रदर्शन महत्त्व रखता था इसलिए अपने साहित्य में संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, अरबी, फारसी आदि कई भाषाओं के शब्दों का प्रयोग करते थे। पृथ्वीराज रासो में तो पंजाबी के शब्द भी मिलते हैं। लेकिन शब्द-प्रयोग में इनमें एकरूपता नहीं दिखाई पड़ती। एक ही शब्द को एक ही ग्रंथ में अलग-अलग रूप में प्रयुक्त हुआ देखा जा सकता है। छंद-पूर्ति के लिए भी ऐसा किया जाता था। "...गीतों के तुक मिलाने के लिए शब्दों को इस बुरी तरह से तोड़ते थे कि वे अपने मूलरूप से बहुत दूर जा पड़ते थे और आज तो उनको पहिचानने में भी बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता है।"[2] वैसे डिंगल को हम अपभ्रंश और हिन्दी के मध्य की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी के रूप में देखते हैं इसलिए इसके महत्त्व को नहीं भुलाया जा सकता।

इनकी भाषा ओजगुण-प्रधान है। रवीन्द्र के शब्दों में भाषा का ऐसा रूप अन्यत्र नहीं दिखाई पड़ता। शब्दचित्र खींचने में भी ये कवि पारंगत हैं। वर्णन-विस्तार का एक कारण चित्रात्मकता भी है। कहीं-कहीं पर ध्वन्यात्मकता के दर्शन भी होते हैं। इनकी भाषा की एक और विशेषता भावानुरण करने की प्रवृत्ति भी है।

पिंगल भाषा या नाग भाषा (भाखा)

राजस्थान और व्रज-प्रदेश में एक और देशी भाषा साहित्यिक भाषा के रूप में प्रयुक्त हो रही थी। इसका उदयकाल चौदहवीं शताब्दी बताया गया है। "चौदहवीं शताब्दी में जिस समय राजस्थान में राजस्थानी भाषा का उदय हो रहा था लगभग उसी समय सूरसेन देश अथवा व्रजमंडल में व्रजभाषा विकसित हो रही थी जिसका आधार शौरसेनी अपभ्रंश था।"[3]

पिंगल नाम

पिंगल का अर्थ होता है छन्दशास्त्र। वस्तुतः छन्दशास्त्र के रचयिता का नाम पिंगल था और उनके नाम के आधार पर समस्त छन्दशास्त्र को ही पिंगल कहा जाता है। व्रजभाषा डिंगल की समता में छन्दोबद्ध अधिक है। इसलिए आचार्यों की यह धारणा है कि डिंगल से भिन्नता दिखाने के लिए व्रजभाषा के लिए पिंगल

---

१. डॉ० मोतीलाल मेनारिया—राजस्थानी साहित्य की रूपरेखा, पृ० २४
२. वही, पृ० २४
३. डॉ० मोतीलाल मेनारिया—राजस्थान का पिंगल साहित्य, पृ० १०

नाम रखा गया। "क्योंकि छंद-रचना में डिंगल शब्द के साथ संगति मिलने और कवितापाठ में सुखोच्चारण की दृष्टि से 'पिंगल' शब्द 'ब्रजभाषा' शब्द की अपेक्षा अधिक उपयुक्त था।"[१] मेनारियाजी पिंगल का प्रयोग अठारहवीं शताब्दी से पहले नहीं मानते अर्थात् यह सुनिश्चित है कि डिंगल भाषा का विकास और उसका नाम पिंगल से पहले का है। पिंगल नाम ब्रजभाषा के लिए बाद में दिया गया।

नाग भाषा

पिंगल (छन्दशास्त्र) के कारण ब्रजभाषा का नाम पिंगल पड़ा और छन्दशास्त्र के प्रणेता का नाम भी पिंगल है। इसलिए पिंगलाचार्य की जाति के आधार पर ब्रजभाषा का नाम भी नागभाषा पड़ गया है। पिंगल स्वयं नाग थे। "बहुत दिनों तक शौरसेनी प्राकृत को और इसीलिए उससे निकली ब्रजभाषा को नागभाषा कहा जाता रहा। मिर्जाखां ने फारसी में लिखे हुए ब्रजभाषा के व्याकरण में प्राकृत को नागलोक की भाषा कहा है। पिंगल स्वयं नाग थे, संभवतः पिंगल का अर्थ हुआ शौरसेनी प्राकृत या ब्रजभाषा।"[२]

भाखा

ब्रजभाषा के लिए कहीं-कहीं भाखा शब्द का प्रयोग भी हुआ है। इस रूप में ब्रजभाषा के साहित्यिक रूप का बोध होता था। द्विवेदीजी के शब्दों में "प्रादेशिक बोलियों के साथ मध्यदेशीय भाषा का मिश्रण होने से एक प्रकार से सर्व-भारतीय भाषा बनी, जिसे हिन्दी में ब्रजभाषा या केवल 'भाषा' कहते थे।"[३] किन्तु 'भाषा' शब्द का प्रयोग केवल ब्रजभाषा के लिए ही नहीं हुआ है। अवहट्ठ की विवेचना में हम बता चुके हैं कि इस देश में प्राचीन काल से ही प्रत्येक नई भाषा के लिए 'देशी भाषा' या सिर्फ 'भाषा' शब्द का प्रयोग होता रहा है। एक समय भाषा शब्द संस्कृत के अर्थ में ही प्रयुक्त होता था। बाद में प्राकृत के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा। इसलिए ब्रजभाषा के लिए ही भाषा शब्द का प्रयोग हुआ हो यह गलत है। ब्रजभाषा से इतर भाषाओं के लिए भी इस शब्द का प्रयोग मिलता है।

अवधी के लिए—'भाखा बद्ध करब मैं सोई' (तुलसी)

डिंगल के लिए—'भाखा संस्कृत प्राकृत भणंता,
बूझ भारती ए मरम' (पृथ्वीराज चौहान)

अतः मेनारियाजी का यह कथन सर्वथा उचित है कि "भाखा शब्द का

---

१. डॉ० मोतीलाल मेनारिया—राजस्थान का पिंगल साहित्य, पृ० १४
२. आ० हजारीप्रसाद द्विवेदी—हिन्दी साहित्य, पृ० ६७
३. वही, पृ० ६७

प्रयोग ब्रजभाषा के लिए ही नहीं, बल्कि संस्कृत से भिन्न अवधी आदि समकालीन लोकभाषाओं के लिए भी होता था।"[1]

राजस्थान में डिंगल के समान ही पिंगल में भी विपुल साहित्य की सृष्टि हुई। मेनारियाजी तो "पृथ्वीराज रासो", 'वंशभास्कर' की भाषा को पिंगल मानते हैं, डिंगल नहीं। "वस्तुतः राजस्थान का पिंगल साहित्य डिंगल साहित्य की अपेक्षा मात्रा में अधिक है।"[2]

देशभाषा के अन्य कवि

मनोरंजक साहित्य के प्रणेता—अमीर खुसरो

देशभाषा काव्य में, अल्पमात्रा में होते हुए भी, खुसरो के मनोरंजक साहित्य का विशेष महत्त्व है। "संधिकाल की संध्या में अमीर खुसरो ने साहित्य को विविध रंगों से रंजित किया। जबकि लौकिक साहित्य के आदर्श निश्चित नहीं थे और रचनाएँ धर्म या राजनीति के संकेतों पर नाचती थीं, उस समय विनोद और मनोरंजन की प्रवृत्तियों को जन्म देना साधारण काम नहीं था। यही अमीर खुसरो की विशेषता थी।"[3] खुसरो के पिता का नाम सैफ़ुद्दीन था जो बलख हजारा से मुग़लों के अत्याचार के कारण भारत आए थे और सुलतान शम्शुद्दीन अल्तमश के कृपापात्र बने। इन्हीं का तीसरा पुत्र अमीर खुसरो था। इनका जन्म १२५५ ई० में हुआ। पिता ने इनका नाम अबुलहसन रखा जो इनके उपनाम खुसरो के प्रचलित हो जाने पर छुप गया। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा पिता द्वारा ही मिली पर उनके मरणोपरान्त मुख्यतः इनके नाना ने ही इन्हें दीक्षा दी। अल्पायु से ही ये कविता करने लगे थे। "जहाँ एक ओर उनमें एक कलाकार की उच्च-कल्पनाशीलता थी, वहाँ दूसरी ओर वे अपने समय के सामाजिक जीवन के उपयुक्त कूटनीतिक व्यवहार-कुशलता में भी दक्ष थे।"[4] इन्होंने अपने ७० वर्ष के जीवन में गुलाम, खिलजी और तुगलक तीन अफगान राजवंशों तथा ११ सुल्तानों का उत्थान-पतन अपनी आँखों से देखा था। लेकिन इस पर भी ये राजनैतिक षड्यन्त्रों से अपने को अनासक्त बनाए रहे और अपने को कवि, संगीतज्ञ, इतिहासकार, वीर योद्धा और कलाकार के रूप में प्रस्तुत करते रहे। शेख निजामुद्दीन औलिया को इन्होंने बचपन से ही अपना गुरु बना लिया था।

खुसरो के साहित्य की महत्ता उसके परम्परा से हटकर प्रस्तुत होने के कारण

१. डॉ० मोतीलाल मेनारिया—राजस्थान का पिंगल साहित्य, पृ० १०
२. वही, पृ० २१
३. डॉ० रामकुमार वर्मा—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० १३३
४. हिन्दी साहित्य कोश—भाग २, पृ० १८

और भी अधिक हो जाती है। वह समय साहित्यिक दृष्टि से मुख्यतः धर्म अथवा वीर रस से सम्बन्धित था। ऐसी अवस्था में धारा से अलग हटकर शुद्ध मनोरंजन का साहित्य प्रस्तुत कर खुसरो ने एक महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। साहित्य की तत्कालीन परिस्थिति अपभ्रंश मिश्रित काव्य की रचनाओं तक ही सीमित थी। पूर्व में उससे भी गम्भीर धर्म-भावना गोरखनाथ के शिष्यों द्वारा प्रचारित हो रही थी, उस समय अमीर खुसरो ने साहित्य के लिए एक नवीन मार्ग का अन्वेषण किया और वह था जीवन को संग्राम और आत्म-शासन की सुदृढ़ और कठोर शृंखला से मुक्त कर आनन्द और विनोद के स्वच्छन्द वायुमंडल में विहार करने की स्वतन्त्रता देना। यही अमीर खुसरो की मौलिकता थी।"[1]

खुसरो के साहित्यिक ग्रन्थों की संख्या ९९ बतलाई जाती है जिनमें से अब २०-२२ ग्रन्थ ही उपलब्ध होते हैं। ये सभी ग्रन्थ साहित्यिक नहीं हैं अपितु अधिकांश इतिहास से सम्बन्धित हैं। ये मसनवियाँ इतिहास होते हुए भी इतिहास नहीं हैं। खुसरो की मसनवियों में कोरा इतिहास नहीं है। उस सहृदय कवि ने इस रुखे-सूखे विषय को सरस बनाने में अच्छी सफलता पाई है और उस समय के सुल्तानों के भोग-विलास, ऐश्वर्य, यात्रा, युद्ध आदि का ऐसा उत्तम चित्र खींचा कि पढ़ते ही वह दृश्य आँखों के सामने आ जाता है।"[2] इस प्रकार इतिहास लिखकर भी खुसरो साहित्यिक परम्परा से दूर रहकर साहित्य का निर्माण कर सके।

इन्होंने फ़ारसी और हिन्दी दोनों में रचनाएँ की हैं। ये मुसलमान थे और उसी वातावरण में पले थे। इनके जीवन का अधिकांश समय भी वैसे ही दरबारी वातावरण में व्यतीत हुआ था। इस पर भी खड़ी बोली में इन्होंने रचना कर अपनी उदारता का परिचय दिया है। इस प्रकार खड़ी बोली के प्रथम कवि होने का गौरव भी इनको प्राप्त है। "इन्होंने खड़ी बोली हिन्दी में रचना कर मुसलमानी शासकों का ध्यान हिन्दी की ओर आकर्षित किया और खालिकबारी की रचना कर हिन्दी, फारसी और अरबी को परस्पर समझने का मौका दिया।"[3]

अमीर खुसरो का हिन्दी का साहित्य आज विवाद का विषय बना हुआ है। यह साहित्य प्रारम्भ से ही मौखिक रहा है और लोकाश्रय से ही विकास को प्राप्त होता रहा है। इसलिए आज कुछ विद्वान् उसकी प्रामाणिकता के प्रति भी सन्देह करते हैं। मुकरियों, पहेलियों, दो सखुने आदि के सूक्ष्म मुक्तकों के रूप में लिखा गया यह साहित्य राजदरबार के परिहासपूर्ण वातावरण के लिए निर्मित हुआ था। संभवतः इस साहित्य के अलिखित रहने का कारण यही है। हिन्दी

१. डॉ० रामकुमार वर्मा—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० १७७
२. ब्रजरत्नदास—खुसरो की हिन्दी कविता, पृ० ५
१. डॉ० रामकुमार वर्मा—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० १७६

साहित्य कोश के अनुसार दुर्भाग्य है कि अमीर खुसरो की हिन्दवी रचनाएँ लिखित रूप में प्राप्त नहीं होतीं। लोकमुख के माध्यम से चली आ रही उनकी रचनाओं की भाषा में निरन्तर परिवर्तन होता रहा होगा और आज वह जिस रूप में प्राप्त होती है वह उसका आधुनिक रूप है। फिर भी हम निस्सन्देह यह विश्वास कर सकते हैं कि खुसरो ने अपने समय की खड़ी बोली अर्थात् हिन्दवी में भी अपनी पहेलियाँ, मुकरियाँ आदि रची होंगी।

अमीर खुसरो का साहित्य

जैसा कि बतलाया जा चुका है इन्होंने मुख्यतः पहेलियाँ, मुकरियाँ, दो सखुने, निसबतें, अनमेलियाँ, स्फुट गीत आदि लिखे हैं।

पहेलियाँ

ये दो प्रकार की हैं—बूझ पहेलियाँ और बिनबूझ पहेलियाँ। बूझ पहेलियों का उत्तर पहेली में ही छुपा रहता है जबकि बिनबूझ पहेलियों का उत्तर अन्यत्र मिलता है और जिसे अपनी बुद्धि से सोचकर ही बतलाया जा सकता है।

बूझ पहेलियाँ

१. खड़ा भी लोटा पड़ा भी लोटा। है बैठा और कहे है लोटा।
खुसरो कहे समझ का टोटा। —'लोटा'

२. सावन भादों बहुत चलत है, माघ पूस में थोरी।
अमीर खुसरो यों कहे तू बूझ पहेली मोरी। —'मोरी'

३. बीसों का सर काट लिया, ना मारा ना खून किया। —'नाखून'

बिनबूझ पहेलियाँ

१. झिलमिल का कुआँ, रतन की क्यारी।
बताओ तो बताओ, नहीं दूँगी गारी। —'दर्पण'

२. एक पुरुष जब मद पर आय, लाखों नारी संग लपटाय,
जब वह नारी मद पर आय, तब वह नारी नर कहलाय। —'आम'

३. है वह नारी सुन्दर नार, नार नहीं पर है वह नार,
दूर से सबको छवि दिखलावे, हाथ किसी के कभू न आवे। —'बिजली'

४. सर पर जटा गले में झोली, किसी गुरु का चेला है,
भर-भर झोली घर को धावें, उसका नाम पहेला है। —'भुट्टा'

"पहेलियों के लिए तो खुसरो प्रसिद्ध ही हैं। इस प्रकार की पहेली और मुकरी कहने वाला हिन्दी साहित्य में एक भी नहीं है, इस क्षेत्र में वे अद्वितीय हैं। इन पहेलियों में जहाँ कौतूहल है, वहाँ रसिकता और विनोद की मात्रा भी पूरी है।"[1]

---

१. डॉ० रामकुमार वर्मा—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० १८५

मुकरियां

यह लोक-प्रचलित पहेलियों का ही एक रूप है, जिसका लक्ष्य मनोरंजन के साथ-साथ बुद्धि-चातुरी की परीक्षा लेना होता है। इसमें जो बातें कही जाती हैं, वे द्वयर्थक या श्लिष्ट होती हैं, पर उन दोनों अर्थों में से जो प्रधान होता है, उससे मुकरकर दूसरे अर्थ को उसी छन्द में स्वीकार किया जाता है, किन्तु यह स्वीकारोक्ति स्वाभाविक नहीं होती।[1] खुसरो ने 'ऐ सखि साजन' के रूप में एक सखि के माध्यम से प्रश्न पूछा है और समस्त बातें 'साजन' पर घटित होते हुए भी अन्य सखी उससे मुकर जाती है—

१. "आंख चलावे भौं मटकावे, नाच कूद के खेल दिखावे,
मन में आवे ले जाऊँ अन्दर, ऐ सखि साजन, ना सखि बन्दर।

२. मोरे मोसे सिंगार करावत, आगे बैठ के मान बढ़ावत,
वासे चिक्कन ना कोई दीसा, ऐ सखि साजन, ना सखि सीसा।

३. सरब सलोना सब गुन नीका, वा बिन सब जग लागे फीका,
वाके सर पर होवे कौन ? ऐ सखि साजन, ना सखि नोन ।।

दो सखुना

जिसमें दो या अधिक प्रश्नों का एक ही उत्तर हो उसे दो सखुना कहते हैं--

१. जोरू क्यों मारी, ईख क्यों उजाड़ी—फेरा न था।
२. घर क्यों अँधियारा, फकीर क्यों बिड़ारा—दिया न था।
३. सितार क्यों न बाजा, औरत क्यों न नहाई—परदा न था।
४. खिचड़ी क्यों न पकाई, कबूतरी क्यों न उड़ाई—छड़ी न थी।
५. पानी क्यों न भरा, हार क्यों न पहना—गढ़ा न था।

निसबतें (सम्बन्ध या बराबरी)

जिसमें दो अर्थों के शब्दों को कौतूहल के साथ घटित किया जाय उसे निसबत कहते हैं। अर्थात् इनमें दो शब्द देकर दोनों समानधर्मी गुण या बात बतलाई जाती हैं—

शब्द	उत्तर
१. बादशाह और मुर्ग में क्या निसबत है ?	—ताज
२. मकान और पायजामे में क्या निसबत है ?	—मोरी
३. आदमी और गेहूँ में क्या निसबत है ?	—बाल
४. दामन और अंगरखे में क्या निसबत है ?	—परदा
५. दरया और गहने में क्या निसबत है ?	—मगर

फारसी और हिन्दी की मिश्रित निसबतें भी खुसरो ने लिखी हैं—

---

1. हिन्दी साहित्य कोश—भाग 1, पृ० ६४६

मोह से भी दरद[1], मुसाफिर को क्या चाहिए —संग[2]

अनमेलियाँ या ढकोसले

जिनमें अनमेल वाक्यावली हो उसे ढकोसला कहते हैं—

खीर पकाई जतन से, और चरखा दिया जलाय।
आया कुत्ता खा गया, तू बैठी ढोल बजाय॥ ला पानी पिला॥

(एक कुएं पर चार पनिहारियाँ पानी भर रही थीं। खुसरो को राह चलते प्यास लगी तो जाकर पानी माँगा। उनमें से एक ने कहा कि मुझे खीर की बात कहो, दूसरी ने चरखे का, तीसरी ने ढोलक और चौथी ने कुत्ते का नाम लिया। इधर वे स्वयं प्यासे थे अतः यह ढकोसला कहा।)[3]

२. औरों की चौपहरी बाजे, चन्नू की अठपहरी।
बाहर का कोई आए नहीं, आए सारे सहरी॥
साफ सूफ कर आगे राखे, जानें नाहीं तुसल।
औरों के जहाँ सींक समाए, चन्नू के वाँ मूसल॥

(चन्नू नाम की भटिहारिन के यहाँ शहर के लुच्चे भंग पीने आते। एक दिन उसने खुसरो से अपने लिए कुछ कहने को कहा। तब यह ढकोसला कहा। उस समय बादशाह के यहाँ चौपहरी नौबत बजती थी। चन्नू के यहाँ भंग इतनी गाढ़ी छनती थी कि लोग कहते थे कि दूसरों के यहाँ भंग में तिनका खड़ा हो सकता है पर इसके यहाँ इतनी गाढ़ी बनती थी कि उसमें मूसल सना जाय।)[4]

३. भैंस चढ़ी बिटोरी और लपलप गूलर खाय।
उतर आ मेरी सांडनी, कहीं हूपज न फट जाय॥

स्फुट रचनाएँ

खुसरु रैन सुहाग की, जागी पी के संग।
तन मेरो मन पीउ को, दोउ भए एक रंग॥

गोरी सोवे सेज पर, मुख पर डारे केस।
चल खुसरो घर आपने, रैन भई चहुँ देस॥

मनोरंजक साहित्य की विशेषताएँ

१. मनोरंजन और परिहासप्रियता—यह स्पष्ट किया जा चुका है कि तत्कालीन साहित्य की मुख्य प्रेरणा धर्म-साधना या राजनैतिक युद्धादि थे। ऐसे में विशुद्ध मनोरंजक साहित्य की रचना करना इसी साहित्य की विशेषता है।

---

१. पसंद में क्या है?
२. संग—(i) पत्थर, (ii) साथ।
३. ब्रजरत्नदास—खुसरो की हिन्दी कविता, पृ० ४८
४. वही, पृ० ४८

यद्यपि दरबारी वातावरण में निर्मित होने के कारण, यह साहित्य भौंडा मनोरंजन ही देता है, तथापि इससे इसके महत्त्व को नहीं नकारा जा सकता ।

२. शृङ्गारिकता—दरबारी वातावरण के कारण ही खुसरो के साहित्य में पहेलियों, मुकरियों को शृङ्गारी रंग में प्रस्तुत किया गया है। शृङ्गाररस का पूर्ण परिपाक तो इनमें नहीं होता. लेकिन प्रतिपाद्य को इस रूप में प्रस्तुत करने की चेष्टा अवश्य हुई है—

पड़ी थी मैं अचानक चढ़ आयो, जब उतरयो तो पसीना आयो ।
सहम गई नहिं सकी पुकार, ऐ सखि साजन, ना सखि बुखार ।।

शृङ्गारिकता का प्रदर्शन कहीं-कहीं अश्लीलता की सीमा को लांघ गया है। बल्कि स्त्री-पुरुष के शारीरिक संयोग के चित्र को शब्दों के माध्यम से प्रस्तुत करने की चेष्टा हुई है—

लौंडी भेज उसे बुलवाया, नंगी होकर मैं लगवाया ।
हमसे उससे हो गया मेल, क्यों सखि साजन, ना सखि तेल ।।

चटाख पटाख कब से, हाथ पकड़ा जब से ।
आह आवे कब से, आधा गया जब से ।।
चुपचाप कब से, सारा गया जब से—'चूड़ियां'

३. खड़ी बोली में रचनाएँ—खुसरो के साहित्य का सर्वाधिक महत्त्व खड़ी बोली में रचना करने के कारण है। ये हिन्दी के समर्थक थे और इस बात को उन्होंने साहित्य निर्माण करके तो प्रस्तुत किया ही है, साथ ही यत्र-तत्र इस सम्बन्ध में घोषणाएँ भी की हैं। इसी प्रकार खड़ी बोली या दक्खिनी हिन्दी के ये प्रथम कवि और समर्थक हैं। उस समय के मुसलमानी साहित्यकार फ़ारसी में रचनाएँ करते थे और उसे हिन्दी की समता में कहीं श्रेष्ठ समझते थे। किन्तु खुसरो ने इस सम्बन्ध में घोषणा की कि "मैं भूला था, पर अच्छी तरह सोचने पर हिन्दी भाषा फ़ारसी से कम ज्ञात नहीं हुई। सिवाय अरबी के जो प्रत्येक भाषा की मीर और सबों में मुख्य है। रई और रूम की भाषाएँ समझने पर हिन्दी से कम मालूम हुई। × × × हिन्दी भाषा भी अरबी के समान है क्योंकि उसमें भी मिलावट का स्थान नहीं है।"[1] संभवतः उस काल में खुसरो की हिन्दी कविता का विरोध हुआ होगा तभी उन्होंने व्याकरण के आधार पर हिन्दी के महत्व का प्रतिपादन भी किया है। उनके अनुसार जिसने हिन्दी के रस का पान किया है वह उसके मिठास को नहीं भुला सकता। उन्हीं के शब्दों में "यदि अरबी का व्याकरण नियमबद्ध है तो हिन्दी में भी उससे एक अक्षर कम नहीं है। जो इन तीनों (भाषाओं) का ज्ञान रखता है वह जानता है कि मैं भूल कर रहा हूँ और यदि

1. ब्रजरत्नदास—खुसरो की हिन्दी कविता, पृ० ७ से उद्धृत

पूछो कि उसमें अर्थ न होगा तो समझ लो कि उसमें दूसरे से कम नहीं है। यदि मैं सचाई और न्याय के साथ हिन्दी की प्रशंसा करूँ तब तुम शंका करोगे या नहीं ? ठीक है, मैं इतना कम जानता हूँ कि वह नदी की एक बूँद के समान है पर उसे चखने से मालूम हुआ कि जंगली पक्षी को दजलः नदी (टाइग्रीस) का जल अप्राप्य है। जोकि हिन्दुस्तान की गंगा से दूर है वह नील और दजलः के बारे में बहकता है। जिसने बाग के बुलबुल को चीन में देखा है वह हिन्दुस्तान की तूती को क्या समझेगा।"[1]

विद्यापति की पदावली

आदिकाल में धारा से अलग हटकर अपनी प्रतिभा के बल पर विशिष्ट रचनाएँ प्रदान करने का श्रेय महाकवि विद्यापति को है। इनका साहित्य संस्कृत, अपभ्रंश और लोकभाषा सभी में मिलता है। तत्कालीन साहित्यिक वातावरण को देखने से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि उस समय उसी कवि की रचनाएँ सम्मानित होती थीं जो संस्कृत में या अपभ्रंश में रचना करता था। गाहड़वाल नरेश संस्कृत के साहित्य को ही विशेष सम्मान से देखते थे और इन्हीं के साम्राज्य के कारण मूल हिन्दी-भाषी प्रदेश में देशी भाषा की कोई रचना आदि-काल में प्राप्त नहीं होती है। लगभग दो सौ वर्षों तक समूचे मध्यदेश पर इस वंश के राजाओं का आधिपत्य था—"इतना प्रायः निश्चित है कि ये लोग बाहर से आए थे और बाहर से आने वाले अन्य लोगों की भाँति वे भी स्थानीय जनता से अपने को भिन्न समझते रहे, अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने का प्रयास करते रहे। बहुत दिनों तक इस दरबार में देशी भाषा के साहित्य को भी प्रश्रय नहीं मिला। ये लोग वैदिक-संस्कृत के उपासक थे और बाहर से बुला-बुलाकर अनेक ब्राह्मण वंशों को दान देकर काशी में बसा रहे थे। संस्कृत को इन्होंने बहुत प्रोत्साहन दिया।"[2] इस प्रकार संस्कृत के रचनाकार आदिकाल के बाद तक पूजनीय बने रहे। तुलसी ने भी सहृदयों की इस द्वैत बुद्धि की भर्त्सना करते हुए कहा है, "का भाषा का संस्कृत भाव चाहिए साँच।" संस्कृत का यह सम्मान कवियों को देश भाषा से खींचकर सदैव अपनी ओर आकर्षित करता रहा। उस समय वही कवि समाज में आदृत होता था जो संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश में रचना करता था।

विद्यापति ने भी संस्कृत और अपभ्रंश में कई ग्रंथों की रचना की है। इनकी संस्कृत रचनाएँ शैवसर्वस्व, गंगा-वाक्यावली, दुर्गा-तरंगिणी, पुरुष-परीक्षा, भू-परिक्रमा आदि हैं। अपभ्रंश में इनके दो ग्रन्थ—कीर्तिलता और कीर्तिपताका मिलते हैं। कीर्तिलता की भाषा अवहट्ठ है और यह ग्रन्थ छोड़कर उसमें वैय-

---

1. ब्रजरत्नदास—खुसरो की हिन्दी कविता, पृ० ८ से उद्धृत
2. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी—हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ० २८

क्तिक-भावना की तरलता सुरक्षित नहीं है। अतः वैदिक गीत में गीति का प्राथमिक गुण अवश्य पाया जाता है।"[1] बौद्ध साहित्य में थेरी एवं थेर गाथाओं में बौद्ध भिक्षु-भिक्षुणियों की आत्माभिव्यक्ति के रूप में गीत मिलते है। किन्तु इनको विशुद्ध गीति नहीं कहा जा सकता। विशुद्ध गीतियों का विकास संस्कृत-साहित्य से ही हुआ। 'मेघदूत' और 'ऋतुसंहार' में गीति के वास्तविक स्वरूप का परिचय मिलता है।

परवर्ती काल में कृष्णभक्तिधारा का सम्बल प्राप्त कर गीतों का विकास द्रुतगति से हुआ। महाप्रभु वल्लभाचार्य ने प्राचीन काल से चली आ रही कृष्ण कथा को नवीन शक्ति प्रदान की। वल्लभाचार्य ने लीलागान पर बल दिया जिससे कृष्ण की लीला के पद प्रचुर मात्रा में लिखे जाने लगे। "साहित्य प्राकृत जन-चरित से हटकर भगवल्लीला की ओर प्रवृत्त हो गया। × × × भागवतपुराण ने ही इस परम्परा का विकास किया था।"[2] किन्तु इस भागवत-परम्परा से अलग लीलागान की एक भिन्न परम्परा पृथक् रूप से चली आ रही थी। जयदेव का 'गीतगोविन्द' उसी परम्परा में पड़ता है। इसको अपनी विशिष्टताओं के कारण भागवत की परम्परा में नहीं देखा जा सकता। "जो हो, लीला के पद बहुत पहले से लिखे जाने लगे थे। कब से लिखे जाने लगे, यह कह सकना तो कठिन है किन्तु दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी में मात्रिक छंदों के गेय पदों मे कृष्ण-लीलागान करने की प्रथा अवश्य चल पड़ी थी।"[3] विद्वानों की दृष्टि में संस्कृत में गीतिकाव्य का चरमोत्कर्ष जयदेव के गीतगोविन्द (बारहवीं शताब्दी) में ही दृष्टिगत होता है। पदों में कोमल पदावली और संगीत का निर्वाह इसमें सुन्दर ढंग से हुआ है। उसके बाद गीतिकाव्य का निर्माण समस्त उत्तर भारत में समान रूप में दिखाई पड़ता है। कश्मीर से लेकर पूर्व में उड़ीसा और बंगाल में समान रूप से यह साहित्य लिखा गया। 'पूर्व से पश्चिम तक सम्पूर्ण भारत में ऐसे पद व्याप्त थे।" संस्कृत के प्रमुख पदकारों में जयदेव के बाद कश्मीर के क्षेमेन्द्र और बंगाल के चण्डीदास मुख्य हैं। चण्डीदास ने जयदेव की ही परंपरा में शृङ्गार और मनोरंजन का समन्वित रूप उस काल की अपभ्रंश के सच्चे स्वरूप को जानने के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ है। किन्तु हिन्दी में विद्यापति की लोकप्रियता का कारण उपर्युक्त ग्रन्थ नहीं हैं। वस्तुतः उनकी पदावली ने ही उनको हिन्दी में लोकप्रिय बना दिया है। "यद्यपि इन्होंने लगभग एक दर्जन संस्कृत ग्रन्थों का निर्माण किया था, तथापि इनकी प्रसिद्धि का खास कारण

---

१. आ० हजारीप्रसाद द्विवेदी—हिन्दी साहित्य, पृ० १६७
२. वही, पृ० १६७
३. आ० हजारीप्रसाद द्विवेदी—हिन्दी साहित्य, पृ० १६७

है इनकी पदावली।"[1] इनकी पदावली मुख्यतः शृङ्गार विषयक है। राधाकृष्ण प्राचीन काल से ही शृङ्गारी कवियों के आराध्य रहे हैं। विद्यापति ने भी उन्हीं को लक्ष्य कर अपने पद लिखे हैं। साथ ही विवाह के समय गाये जानेवाले पदों, नचारियों की रचना भी इन्होंने की है। इनके पदों को सुनकर चैतन्य महाप्रभु भाव-विभोर हो मूर्च्छित हो जाया करते थे। मिथिला की गली-गली इनके गीतों से रस-प्लावित रही है। "वे एक अजीब कवि हो गए हैं। राजाओं की गगन-चुम्बी अट्टालिकाओं से लेकर गरीबों की टूटी-फुटी फूस की झोंपड़ियों तक में इनके पदों का आदर है। भूतनाथ के मन्दिर और 'कोहबर-घर' में इनके पदों का समान रूप से सम्मान है।"[2]

गीतिकाव्य-परम्परा और विद्यापति की पदावली

विद्यापति ने जिन गीतों की सृष्टि की वे भारत की एक सुदीर्घकालीन परम्परा से सम्बन्धित हैं। भारत में गीतों की सृष्टि वैदिक साहित्य के समय से ही शुरू हो गई थी। सामवेद को गीतों का घर कहा गया है। यज्ञस्थल पर संगीत की स्वर-लहरियों के साथ इन गीतों का परायण किया जाता था। साम-वेद के गीत गीतिकाव्य के अनिवार्य तत्त्व संगीतात्मकता, भावबहुलता, गेयता आदि से युक्त हैं। किन्तु उनमें वैयक्तिकता के दर्शन नहीं होते। इस प्रकार वैदिक ऋचाओं के समवेद गायन में उच्चारण, स्वर, लय, ताल तथा नाट्य-विधान की कठोरता के कारण गीत के संगीत-तत्त्व की रक्षा तो अवश्य हो गई, किन्तु कुछ प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन, रूपक-कथाओं तथा संस्कार विशेष के समय के भावाभिव्यंजन को प्रस्तुत किया जिसमें राधा और कृष्ण को ही काव्य का आधार बनाया गया है।

विद्यापति भी लीलागान की पद-परम्परा में ही आते हैं। मिथिला-प्रदेश का यह कवि जयदेव और चण्डीदास से पूरी तरह प्रभावित था। एक लम्बी अवधि तक बंगाल के लोग विद्यापति के पदों को अपना ही मानकर आदर देते रहे।

किन्तु हिन्दी में पदों की परम्परा में विद्यापति को आदिम स्थान नहीं दिया जा सकता। उनसे पूर्व सिद्धों ने अपने चर्यापदों में पदों की रचना ही की है। इस पद-परम्परा का सीधा सम्बन्ध पूर्व भारत में प्रचलित लोकगीतों से है। विद्या-पति भी लोकभाषा के कवि हैं किन्तु पद-रचना की दृष्टि से ये जयदेव और चण्डीदास की साहित्यिक परम्परा में आते हैं। सिद्ध साहित्य सरसता की दृष्टि से विद्यापति के पदों की बराबरी नहीं कर सकता। उनका उद्देश्य हठयोग

१. रामवृक्ष बेनीपुरी—विद्यापति की पदावली, पृ० ३५
२. वही, पृ० ३८

या कायायोग की रहस्यपूर्ण साधनाओं को प्रकट करना था। इसलिए सिद्धों के चर्यापदों या गीतियों में सैद्धान्तिक विश्लेषण की रुक्षता और उपदेशात्मकता अधिक है। दूसरी ओर विद्यापति के पद सरस और सुमधुर हैं। "उनकी पदावली में राधा और कृष्ण की जिस प्रेमलीला का चित्रण है वह अपूर्व है।" उनके पदों को सुनकर चैतन्य महाप्रभु भाव-विभोर हो जाते थे। डॉ० ग्रियर्सन ने पदावली की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए कहा है—"हिन्दू धर्म के सूर्य का अस्त भले ही हो जाय—वह समय भी आ जाय जब राधा और कृष्ण में मनुष्यों का विश्वास और श्रद्धा न रहे, और, कृष्ण के प्रेम की स्तुतियों के लिए, इहलोक में हमारे अस्तित्व के लिए जो इहलोक में हमारे 'अस्तित्व-रोग' की दवा है, अनुराग जाता रहे, तो भी विद्यापति के गान के लिए जिसमें राधा और कृष्ण का उल्लेख है—लोगों का प्रेम कभी कम न होगा।"[1] अस्तु विद्यापति अपनी महत्ता के कारण हिन्दी के प्रथम सशक्त गीतकार ठहरते हैं। इनके पदों के पीछे निम्न तीन परम्पराएँ रहीं हैं :

१. जयदेव और चण्डीदास की साहित्यिक पद-परम्परा।
२. सिद्धों की लोकाश्रित पद-परम्परा, जो पूर्व-भारत में प्रचलित थी।
२. कृष्णभक्तों की राधा-कृष्ण के लीलागान की परम्परा।

आदिकाल का सूफी साहित्य

आदिकालीन देशभाषा साहित्य में स्फुट-रूप में सूफी सम्प्रदाय का साहित्य भी प्राप्त होता है। भारत में सूफियों का व्यापक प्रचार भक्तिकाल के समय में अधिक हुआ। इसलिए यह साहित्य मूलतः भक्तिकाल का साहित्य है। फिर भी समय की दृष्टि से मुल्ला दाऊद का 'चन्दायन' काव्य आदिकाल की सीमा में आता है। इसका रचनाकाल १३१८ ई० बतलाया जाता है। इसमें नूरक और चन्दा की प्रेमकथा मिलती है। अन्य भारतीय सूफी कवियों के समान इस कवि ने भी सूफी सिद्धान्तों के आधार पर यह कथा लिखी है। इसलिए इस काव्य की पृष्ठभूमि के लिए पहले सूफी सिद्धान्तों का परिचय प्राप्त करना आवश्यक है।

इस प्रकार देश-भाषा काव्य में हमें डिंगल साहित्य के अतिरिक्त पिंगल-काव्य और विद्यापति, खुसरो, मुल्ला दाऊद का स्फुट साहित्य भी प्राप्त होता है। स्पष्ट ही इनमें से प्रत्येक काव्य देशी या विदेशी परम्परा से बँधा हुआ है। इनका साहित्य उस पृष्ठभूमि के आधार पर ही देखा जाना चाहिए। जब तक ऐसा नहीं किया जायगा तब तक हिन्दी साहित्य के आदिकाल का स्वरूप अस्पष्ट ही रहेगा। उसकी कहानी अधूरी ही रहेगी।

१. विद्यापति पदावली (सं० रामवृक्ष बेनीपुरी), पृ० ३६ से उद्धृत।